आहार एवं पोषण के आयुर्वेदीय सिद्धांत

खण्ड १

लोक स्वास्थ्य परंपरा संवर्धन समिति

आहार एवं पोषण के आयुर्वेदीय सिद्धांत

भाग-१

वैद्य एम. राधिका

एवं

ए.वी. बालसुब्रमणियन्

-: हिंदी रूपांतर :-

पं. माधवाचार्य

एवं

डा. नरेन्द्र नाथ मेहरोत्रा

-: कला :-

श्री संदीप सेन एवं नटेश

लोस्वापसंस महानिबंध

सितंबर १९९५

लोस्वापसंस महानिबंध : आहार एवं पोषण के आयुर्वेदीय सिद्धांत भाग १

प्रकाशन तिथि : सितंबर १९९५

मूल्य : रु ५०/- (लोस्वापसंस व जीवनीय के सदस्यों के लिए रु. ४५/-) प्रतियां प्राप्त करने के लिए वांछित धनराशि का भुगतान (धनादेश या डिमांड ड्राफ्ट के रूप में हो तो बेहतर), 'जीवनीय सोसायटी, लखनऊ' के पक्ष में निम्न पते पर भेजें

जीवनीय सोसायटी

ई III/२४९, सेक्टर एच

अलीगंज, लखनऊ - २२६०२४

बाहर से भेजे जाने वाले चेकों में रु. १५/- मात्र, बैंक शुल्क अतिरिक्त भेजें। रजिस्टर्ड डाक द्वारा पुस्तक प्राप्त करने के लिए रु. १०/- अतिरिक्त भेजें।

कापार्ट (काउंसिल फार एडवांसमेन्ट आफ पीपुल्स ऐक्शन ऐण्ड रूरल टेक्नालाजी की वित्तीय सहायता से प्रकाशित)

प्रकाश पैकेजर्स, २५७ गोलागंज, लखनऊ द्वारा मुद्रित

विषय–सूची

	भूमिका	(i)
	दो शब्द	(ii)
	लोस्वापसंस	(iii)
	जीवनीय सोसायटी	(v)
अध्याय १	प्रस्तावना	१
अध्याय २	द्रव्यगुण और पाचन के आधारभूत सिद्धांत	४
अध्याय ३	अग्नि	१३
अध्याय ४	प्रकृति और ऋतु के अनुसार आहार	२१
अध्याय ५	आहार विधि	२६
अध्याय ६	पथ्य और अपथ्य	३९
अध्याय ७	कतिपय विशिष्ट पदार्थ	५०
अध्याय ८	कुछ विशेष विषय	७४
अध्याय ९	निष्कर्ष	१००
प्रथम परिशिष्ट	प्राविधिक शब्द संग्रह	१०९
द्वितीय	परिशिष्ट रस	११६
तृतीय परिशिष्ट	निघंटु और गण	११८
	संदर्भ	१२५

भूमिका

प्रस्तुत महानिबंध लोक स्वास्थ्य परंपराओं से संबद्ध विषयों पर लोस्वापसंस द्वारा प्रकाशनाधीन तकनीकी महानिबंध-श्रृंखला की दूसरी कड़ी है। अनेक वर्ष पूर्व १९८६ में लोस्वापसंस ने कालाडि में "आयुर्वेदीय पोषाहार विज्ञान" विषय पर एक सप्ताह की कार्यशाला आयोजित की थी। यह कार्यशाला सामुदायिक स्वास्थ्यकर्मियों, पोषाहार विज्ञानियों, जीवविज्ञानियों, एलोपैथिक डाक्टरों आदि श्रोताओं के सम्मुख आयुर्वेदीय आचार्यों द्वारा आयुर्वेदीय पोषाहार विज्ञान की व्याख्या के रूप में सम्पन्न हुई। सम्मेलन ने आहार और पोषाहार के क्षेत्र की लोक स्वास्थ्य परंपराओं में निहित तर्काधार को समझने में आयुर्वेद के महत्व को रेखांकित किया और इस क्षेत्र के समकालीन संदर्भ और संभावनाओं को उजागर किया।

प्रस्तुत महानिबंध उपर्युक्त विषय का विस्तारमात्र है। उक्त कार्यशाला में प्रस्तुत की गयी सामग्री से हमने बहुत कुछ ग्रहण किया है। हम वैद्य रमेश मधुसूदन नानल और वैद्य विजयपाल के भी आभारी हैं जिनके निबंधों से उद्धरण यहां उद्धृत किये गये हैं। प्रस्तुत महानिबंध का एक पूरक खंड प्रकाशित करने की भी हमारी योजना है जिसमें आयुर्वेदीय मापदंडों पर पदार्थों के पोषाहारात्मक मान दिये जायेंगे। यह शीघ्र ही इसी नाम से दूसरे भाग के रूप में प्रकाशित होगा। इस कृति के संबंध में आपके सुझावों और टिप्पणियों का हम हार्दिक स्वागत करते हैं।

फरवरी १९९०
मद्रास

ए.वी. बालसुब्रमणियन्
संपादक

दो शब्द

स्वास्थ्य रक्षण के क्षेत्र में भारतीय चिकित्सा पद्धतियों का अपना महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आयुर्वेद में कई विषयों का विवेचन इतने विस्तार से किया गया है जितना आधुनिक चिकित्सा की एलोपैथिक पद्धति में भी अक्सर नहीं मिलता। आहार एवं पोषण के आयुर्वेदीय सिद्धांत भी एक ऐसा ही विषय है जिसमें न केवल सैद्धांतिक रूप से कई महत्वपूर्ण विचारों का प्रतिपादन किया गया है वरन् उनके प्रयोगात्मक स्वरूप का विवेचन भी महत्वपूर्ण है।

लोस्वापसंस की सहयोगी संस्था के रूप में जीवनीय सोसायटी ने इन महानिबंधों के हिंदी रूपांतर का जो दायित्व लिया था उस श्रृंखला की यह तीसरी कड़ी है। इस महानिबंध में आहार एवं पोषण के स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभावों से संबंधित कई महत्वपूर्ण विषयों पर विस्तार से विवेचन किया गया है। इस रुपांतर में हमारा यह प्रयास रहा है कि हिंदी भाषी क्षेत्र की मान्यताओं एवं आवश्यकताओं को भी इस विषय के विवरण में पर्याप्त स्थान मिल सके।

कतिपय कारणों से इस महानिबंध के हिंदी रूपांतर को आप तक पहुंचाने में लगी देरी के लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं। हमारे अगले महानिबंधों के अतिरिक्त हिंदी में अन्य वैज्ञानिक पुस्तिकाएं भी आपके पास नियमित रूप से पहुंचाने का हमारा प्रयास रहेगा। हमें आशा है कि हिंदी क्षेत्र के हमारे पाठक अपनी प्रतिक्रियाओं से हमें सदैव लाभान्वित करते रहेंगे।

जीवनीय सोसायटी
ई-III/२४९, सेक्टर एच
अलीगंज, लखनऊ - २२६०२४

पं. माधवाचार्य
डा. नरेंद्र मेहरोत्रा
संपादक, हिंदी रूपांतर

लोस्वापसंस क्या है ?

लोस्वापसंस स्वास्थ्य रक्षा की राष्ट्रव्यापी देशी पद्धतियों और लोक स्वास्थ्य परंपराओं के पुनरुज्जीवन के लिए प्रतिबद्ध व्यक्तियों, वर्गों एवं संस्थाओं का एक नेटवर्क है। भारतीय समाज में विद्यमान लोकस्वास्थ्य परंपराओं का पुनर्निर्माण एवं इस प्रक्रिया में प्राथमिक स्वास्थ्य रक्षा के परंपरागत आत्मनिर्भर स्वरूप का पुनरुज्जीवन समिति का प्रधान उद्देश्य है।

पृष्ठभूमि

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि हमारे देश में, जनजातियों के क्षेत्र में एवं अन्यत्र भी, स्थानीय स्वास्थ्य रक्षा की अनगिनत लोक परंपराएं सर्वत्र विद्यमान हैं। इनमें से अनेक परंपराएं आयुर्वेद, यूनानी और सिद्ध जैसी भारतीय स्वास्थ्य पद्धतियों के प्रकाश में मूल्यांकन करने पर शास्त्रसंगत सिद्ध होती है। लाखों ग्राम्य चिकित्सक, दाइयां और गृहिणियां इन परंपराओं की वाहक हैं। ये परंपरागत प्रयोग मौलिक स्वास्थ्य के अनेक अंगों, जैसे जच्चा-बच्चा स्वास्थ्य रक्षा, खाद्य और पोषाहार, सामान्य रोगों के उपचार तथा घरेलू उपचार से संबद्ध हैं। कुछ समुदायों में हड्डियां बैठाने की, विष-चिकित्सा की, कतिपय चिरकालिक व्याधियों के उपचार की तथा नाड़ी परीक्षा जैसी नैदानिक विधियों की विशिष्ट परंपराएं चली आ रही हैं।

यह एक तथ्य है कि आज ये परंपराएं इनमें निहित प्रबल संभावनाओं के बावजूद दुर्बल स्थिति में है। पर हमारा यह विश्वास है कि आयुर्वेद, यूनानी और सिद्ध जैसी स्थापित भारतीय चिकित्सा पद्धतियों से इन परंपराओं के तालमेल को प्रोत्साहित करके इन परंपराओं को नवजीवन प्रदान किया जा सकता है। इन लोक स्वास्थ्य परंपराओं और देशी विज्ञानों में अन्योन्याश्रय संबंध होने के कारण इस प्रकार के तालमेल से एक ओर लोक स्वास्थ्य परंपराओं की शक्ति बढ़ेगी और दूसरी ओर इन पद्धतियों के सिद्धान्तों को, जिन्हें बृहत्तर भारतीय समाज से पुनः सम्पर्क साधना है, नया बल मिलेगा। इसी सोच को लेकर दिसम्बर १९८५ में, जब सम्पूर्ण भारत की तीस से अधिक संस्थाएं और अनेक व्यक्ति महाराष्ट्र के कशेले गांव में अपने

अनुभवों को आदान-प्रदान करने के लिए एकत्र हुए तो एक नेटवर्क के रूप में लोस्वापसंस की स्थापना की गयी।

समिति के उद्देश्य

- देश में विद्यमान लोक स्वास्थ्य परंपराओं के सर्वेक्षण और अभिलेखन का काम सम्पन्न कराना।
- प्रशिक्षण, अनुसंधान एवं अभिलेखन केन्द्रों की स्थापना करना।
- लोक-चिकित्सकों के लिए छात्रवृत्तियां तथा अध्ययन एवं यात्रा अनुदान की व्यवस्था करना।
- देशी स्वास्थ्य वैज्ञानिकों को तथा संवर्धन कार्य में अंशदान कर सकने वाले अन्य व्यक्तियों तथा समूहों का एक सक्रिय नेटवर्कतैयार करना।
- नीति विषयक अध्ययन को संचालित एवं प्रोत्साहित करना तथा उसके आधार पर सभी सम्बद्ध लोगों को परामर्श देना और उन परामर्शों के क्रियान्वयन के लिए प्रयास करना।
- औषधीय वनस्पतिशालाओं, उद्यानों और वनों की स्थापना करना तथा विभिन्न व्यक्तियों, संस्थाओं और स्थानीय निकायों आदि के सहयोग से उनका संवर्धन करना।
- लोक स्वास्थ्य परम्पराओं को समाविष्ट करने वाले देशी स्वास्थ्य विज्ञान से सम्बन्धित वैज्ञानिक शिक्षण सामग्री का अभिकल्पन, प्रचार-प्रसार तथा प्रोन्नति एवं इस प्रकार की सामग्री को स्कूलों, कालेजों तथा अन्य शिक्षा संस्थाओं के पाठ्य क्रमों में समाविष्ट कराने के लिए प्रयत्न करना।
- इस क्षेत्र में होने वाले कार्यों का मूल्यांकन करने, सूचनाओं के प्रचार-प्रसार तथा अनुभवों के आदान-प्रदान के लिए सम्मेलनों, प्रदर्शनियों तथा कार्यशालाओं आदि का आयोजन करना।

संपर्कका पता :
सचिव:
लोक स्वास्थ्य परंपरा संवर्धन समिति
पो. बाक्स ७१०२, कोयंबतूर - ६४१०४५

जीवनीय सोसायटी

जीवनीय सोसायटी एक ऐसे स्वस्थ समाज के निर्माण को कटिबद्ध है जिसमें लोग अपनी जीवनी शक्ति की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकें। इस हेतु संस्था ऐसे चुने हुए व्यक्तियों एवं संस्थाओं की सहभागिता ले रही है जो स्वास्थ्य के क्षेत्र में व्यक्ति, समाज एवं देश, सभी की आत्मनिर्भरता को विशेष महत्व देते हैं।

एक आंदोलन

जीवनीय सोसायटी से जुड़े सभी साथियों का विश्वास रहा है कि स्वास्थ्य के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता किसी भी समाज के बहुमुखी विकास के लिए आवश्यक है। इसी विश्वास के रहते जीवनीय परिवार के सभी साथी मानव के सामाजिक विकास को कटिबद्ध व ऐसे आंदोलनों से सक्रिय रूप से जुड़े रहे हैं। यद्यपि सोसायटी का औपचारिक गठन वर्ष १९९१ में हुआ व इसका रजिस्ट्रेशन १९९२ में ही संभव हो सका, इसके अधिकांश सदस्य कई वर्षों से ऐसे आंदोलनों व कार्यक्रमों से जुड़े रहकर वर्ष १९८८-८९ से लखनऊ व उसके आस-पास के क्षेत्रों में विशेष रूप से सक्रिय रहे। इस दौरान इन साथियों ने कानपुर में पीलिया की महामारी जैसी विभीषिकाओं से जूझने से लेकर जीवनीय पत्रिका, जनोपयोगी विज्ञान पुस्तिकाओं, लोक स्वास्थ्य के इन महानिबंधों व भित्ति-पत्रों आदि के प्रकाशन में सहयोग किया हैं।

हमने वनौषधि उद्यानों के प्रचलन से स्वास्थ्य शिक्षा व स्वास्थ्य में स्थानीय संसाधनों के महत्व, उनकी उपयोगिता व आवश्यक अनुसंधान जैसे विषयों पर राष्ट्रीय गोष्ठियों के आयोजन जैसे कई प्रयास भी किए हैं। संस्था स्वास्थ्य शिक्षा के साथ जन विज्ञान के कार्यक्रमों से संबद्ध होकर विज्ञान प्रचार के क्षेत्र में भी सक्रिय रही है। भारत जन विज्ञान जत्था ९२ व बाल विज्ञान कांग्रेस '९३ में सहभागिता के अतिरिक्त संस्था ने विज्ञान पत्रकारिता का भी प्रशिक्षण इस उद्देश्य से आरंभ किया है कि इसका लाभ जन विज्ञान के आंदोलनों को सुदृढ़ बनाने के लिए किया जा सके।

संस्था के मुख्य उद्देश्य

संस्था मुख्यतः निम्न कार्यों को प्रतिपादित करने को प्रतिबद्ध है।

(१) प्राथमिक स्वास्थ्य की देखभाल के आत्मनिर्भर प्रतिरूपों (माडलों) का विकास।

(२) भारतीय स्वास्थ्य पद्धतियों के ज्ञान के शिक्षण, अनुसंधान और संप्रेषण का कार्य हाथ में लेना और इन्हें प्रोत्साहित करना।

(३) औषधीय वनस्पतियों की कृषि, प्रवर्धन और सरल उपयोग को प्रोत्साहित करना।

(४) उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक अन्य कार्यों को यथासमय हाथ में लेना और पूर्ण करना।

उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संस्था जन-जन का आवाहन करती है।

प्रस्तावना

भारत में स्वास्थ्य रक्षण पद्धतियों की सहस्राब्दियों से प्रचलित एक समृद्ध परंपरा है। यदि हम देसी चिकित्सा पद्धतियों (देचिप) और पाश्चात्य पद्धति के दृष्टिकोणों की तुलना करें तो आहार और पोषण के क्षेत्र में हमें अक्सर परस्पर विरोधी बोध का अनुभव होगा। प्रायः हमारे मन में देचिप के साथ पथ्य और अपथ्य की धारणा अर्थात् व्यक्तिगत आवश्यकताओं तथा रोगावस्था आदि के अनुसार उचित आहार का सेवन और अनुचित आहार का निषेध रहती है। वास्तव में कुछ लोग ऐसे भी हैं जो ऐलोपैथी औषधोपचार को देचिप से इसलिए बेहतर मानते हैं क्योंकि उसमें 'आहार पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाया जाता।'

किसी स्तर पर इससे इतना ही व्यक्त होता है कि ऐलोपैथी में अभी तक स्वास्थ्य और रोगों पर हमारे आहार के संभावित गंभीर प्रभावों के प्रति न के बराबर जागरूकता है। बीसवीं सदी के प्रारंभ से, जब आहार में विशिष्ट कारकों के अभाव से उत्पन्न 'हीनताजन्य रोगों' की खोज हुई, ऐलोपैथी ने आहार के महत्व को अनुभव करना प्रारंभ किया है। फिर भी ऐलोपैथी को आहार के विभिन्न गुणों, स्वास्थ्य और बीमारी पर उसके प्रभाव, आयु, वृद्धि की स्थिति, व्यक्तिगत प्रकृति वैशिष्ट्य, ऋतु आदि विविध मापदंडों के आहार पर पड़ने वाले प्रभावों की बहुत कम समझ जान पड़ती है।

लोक स्वास्थ्य परंपराएं

वैज्ञानिकों, अनुसंधानकर्ताओं और पोषाहार अथवा सामुदायिक स्वास्थ्य, जीवरसायन आदि संबद्ध विषयों में प्रशिक्षित अधिकांश वर्ग को भारिप की समृद्ध

धरोहर का कोई संज्ञान नहीं है। स्वास्थ्य रक्षण की विविध भारतीय परंपराओं अर्थात् हमारी लोक स्वास्थ्य परंपराओं को अधः प्रस्तुत बिन्दुओं की गहरी समझ है :

- संतुलित आहार
- सामान्य रूप से व्यवहृत आहार द्रव्यों के खाद्य मूल्य
- विशिष्ट आवश्यकताओं जैसे गर्भिणी की देखभाल और स्तन्य पिलाने वाली माताओं के लिए खाद्य परामर्श
- रोगनिवारक खाद्य
- व्यक्तिगत आवश्यकताओं, यथा प्रकृति आदि के अनुसार खाद्य परिवर्तन।

आयुर्वेदादि भारतीय विज्ञानविद्याओं में उपर्युक्त बिन्दुओं पर व्यवस्थित रूप से वैज्ञानिक व्याख्या वर्णित है जिनके आधार पर इन्हें सरलता से समझा जा सकता है।

इस महानिबंध का प्रयास

उपर्युक्त संकल्पनाओं पर विस्तार से चर्चा के अतिरिक्त भाचिप में आहार संबंधी विशेष विषयों, जैसे पाकशास्त्र, मुंह की सफाई, उपवास आदि पर भी विस्तृत विवरण उपलब्ध है। परंपरागत पोषण की अनेक संकल्पनाएं अनूठी हैं जिनकी समतुल्य संकल्पनाएं आधुनिक पोषाहार विज्ञान में नहीं मिलती, जैसे विरुद्धाहार की संकल्पना। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद के शास्त्रीय ग्रंथों और निघंटुओं में विभिन्न पदार्थों के खाद्य मूल्यों और चिकित्सीय उपयोगों के विषय में महत्वपूर्ण सूचनाओं का भंडार भी है।

- लोक स्वास्थ्य परंपराओं और भाचिप के संबंध के विषय में हमारे पूर्व महानिबंध 'स्थानीय स्वास्थ्य परंपराएं : एक परिचय' में विस्तार से विचार किया गया है। इस पुस्तक के आरंभ में प्रस्तुत 'लोस्वापसंस क्या है ?' में भी इस संबंध को संक्षेप में परिभाषित किया गया है।

आहार और पोषण संबंधी अनेक परंपरागत स्वस्थ व्यवहारों को केवल इसलिए अंधाधुंध तरीके से नष्ट किया जा रहा है क्योंकि पाश्चात्य पोषण विज्ञान अग्नि, प्रकृति, उष्ण, शीत आदि भारतीय पारंपरिक संकल्पनाओं को 'समझने' में असमर्थ है। प्रस्तुत महानिबंध आहार और पोषण की आयुर्वेदीय संकल्पनाओं का परिचायक बने, यही हमारा उद्देश्य है। इससे आहार एवं पोषण से संबंद्ध लोक स्वास्थ्य परंपराओं के तर्काधार को समझने की दृष्टि विकसित होने की काफी सम्भावनाएं हैं।

द्रव्यगुण और पाचन के आधारभूत सिद्धान्त

मूल विषय पर आने से पूर्व हमें आयुर्वेद की आधारभूत सामग्री और संकल्पनाओं को भलीभांति समझना होगा। आयुर्वेद विज्ञान का भव्य भवन पंचमहाभूत और त्रिदोष के आधारभूत सिद्धांतों की नींव पर खड़ा है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पंचमहाभूत तथा वात, पित्त और कफ, ये त्रिदोष समस्त जीवधारियों के अस्तित्व, स्वास्थ्य और रोगों के कारक हैं (१) * पंचमहाभूत शरीर के भौतिक आधार हैं और त्रिदोष साम्यावस्था में प्रकृति और असंतुलन की स्थिति में विकृति (विकृतिजन्य रोग) के निर्माण की भूमिका निभाते हैं। औषध और आहार की संरचना और गुणों का वर्णन पंचमहाभूतों के आधार पर और उनकी क्रिया का वर्णन त्रिदोषों के आधार पर किया गया है।

पंचमहाभूत क्या है ?

पंचमहाभूत इस जगत के तथा जीवधारियों के भौतिक आधार हैं। आत्मा और पंचमहाभूत पुरुष (जीव/व्यक्ति) के छह घटक हैं और इसीलिए पुरुष को षड्धात्वात्मक अर्थात छह घटकों वाला कहा गया है। चेतना के साथ संयुक्त पंचमहाभूत का कुछ भाग

* पृथ्वी आदि तकनीकी शब्दों का प्रयोग पुस्तक में यथावत् किया जायेगा। परिशिष्ट एक में इस पुस्तक में प्रयुक्त तकनीकी शब्दों के अर्थ दिये गये हैं। ये शब्दार्थ केवल समानार्थी हैं और मूल शब्द के अभिप्राय का संकेत भर देते हैं। आयुर्वेद के वैज्ञानिक आधार और उसके सिद्धान्तों की विस्तृत चर्चा पाठक कृपया हमारे प्रथम महानिबंध 'स्थानीय स्वास्थ्य परंपराएं : एक परिचय' में देखें।

शरीरक्रियात्मक प्रक्रियाओं को संपन्न करने तथा उन्हें नियमित करने के काम आता है। त्रिदोष केवल जीवधारियों में पाये जाते हैं जबकि पंचमहाभूत प्राणवान और प्राणरहित दोनों प्रकार के पदार्थों में पाये जाते हैं। आकाश को छोड़ अन्य घटकों के स्थूल रूप में कोई भी महाभूत निपट अकेला नहीं होता। महाभूत अपनी सूक्ष्म अवस्था अर्थात् तन्मात्राओं में ही शुद्ध स्वरूप में होते हैं। उदाहरण के लिए वायु महाभूत में आकाश और वायु के कणों का संयोजन होता है और तेजो महाभूत में आकाश, वायु और तेजस का समुच्चय होता है। अभिप्राय यह कि किसी महाभूत के दृश्य स्थूल रूप में सभी महाभूतों का समावेश होता है किन्तु मुख्य महाभूत का प्रतिशत उच्चतर होता है। जैसे पृथ्वी महाभूत में पांचों महाभूतों की तन्मात्राएं होती हैं किंतु उसमें पृथ्वी तन्मात्रा की अति होती है।

त्रिदोष सिद्धांत क्या है ?

जीवधारियों में आत्मा के साथ पंचमहाभूत के कुछ अंश दोषरूप में व्यक्त होते हैं - *वायवाकाशधातुभ्यां वायुः आग्नेयं पित्तं, अम्भः पृथ्वीभ्यां श्लेष्मा (अष्टांग संग्रह, सूत्रस्थान २०/३)।*

पृथ्वी + अप - कफ

आकाश + वायु – वात

तेजस – पित्त

तीनों दोषों को परिभाषित करते हुए कहा है :

'श्लिष् आलिंगने उत्पद्यते इति श्लेष्मा' अर्थात् जो चिपकाव उत्पन्न करे और बांध कर रखे वह श्लेष्मा है। (चरकसंहिता, विमानस्थान १/५)

'तप संतापे इति पित्तः' अर्थात जो उष्ण है और हमारे शरीर में मौजूद गरमी के लिए उत्तरदायी है वह पित्त है और *'वा गतिगन्धनयो हरिति वातः'* अर्थात् जो समस्त गतियों का कारण है, वह वात है। (सुश्रुत संहिता २१/५)।।

त्रिदोष के अस्तित्व और क्रिया को समझने के लिए एक दृष्टांत दिया जा सकता है जिससे त्रिदोष सिद्धांत को समझने में सरलता होगी। एक चलती हुई मोटरकार की कल्पना करें। कार शरीरधारी है जिसके कारण ही उसमें गति संभव हो सकी है। किंतु ऊर्जा के उत्पादन और व्यय के बिना शरीर और गति का सहअस्तित्व संभव नहीं। गतिशील कार में ऊष्मा के रूप में ऊर्जा उत्पन्न होती है। इस प्रकार उत्पन्न ऊष्मा को नियंत्रित करने के लिए मशीन में ऊष्मारोधी युक्ति का समावेश आवश्यक है। मोटर कार के रेडिएटर में पानी, इंजन में तेल और पुर्जों में लगनेवाला ग्रीज़ आदि ही मोटरकार की उष्मारोधी प्रणाली के घटक हैं। इस सरलतम स्थूल उदाहरण में गति की तुलना शरीरस्थ वायु से, ऊष्मा की तुलना पित्त से और चिकनाई की तुलना कफ से की जा सकती है (२)।

आहार में उपस्थित पंचमहाभूतों, आहार-द्रव्यों के गुणों और त्रिदोषों पर उनकी क्रिया के आधार पर उनके कर्मगुणों की एक सूची बनायी जा सकती है। चरक ने बल्य, ज्वरहर, कृमिघ्न आदि ५० वर्गों में द्रव्यों का वर्णन किया है। इनमें से कुछ विशेषताएं विविध तंत्रों (जैसे तंत्रिका तंत्र), कर्मेन्द्रियों, सामान्य उपापचय तथा विशिष्ट दोषों, धातुओं, स्रोतसों आदि पर द्रव्य के प्रभाव के विषय में विस्तार से बताती है। इन्हें विस्तार से तृतीय परिशिष्ट में सूचीबद्ध किया गया है।

रस क्या है ?

आहार या औषध को द्रव्य कहते हैं और ये रस, गुण, वीर्य आदि के आधार हैं अर्थात रस आदि द्रव्य में उपस्थित रहते हैं। आयुर्वेद के अंतर्गत विभिन्न संदर्भों में रस के विविध अभिप्राय हैं। रस का सामान्य अर्थ स्वाद है। रस शब्द से पाचन के उत्पाद का भी बोध होता है जो सप्तधातुओं में से एक है। लेकिन आहार के गुणों और क्रियाओं के संदर्भ में रस से स्वाद का अर्थ लिया जाता है। स्वाद छह हैं, मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय। इन रसों का अध्ययन अत्यंत महत्व का है

क्योंकि इनसे दोषों की वृद्धि या ह्रास निर्धारित होता है और साथ ही ये धातु, मल, अग्नि और स्रोतसों पर महत्वपूर्ण प्रभाव छोड़ते हैं।

इनमें से प्रथम तीन अर्थात मधुर, अम्ल और लवण रस वातघ्न और कफकारक हैं। शेष तीन अर्थात् कटु तिक्त और कषाय रस वातकर एवं कफघ्न हैं।

कषाय, तिक्त और मधुर रस पित्त का शमन तथा कटु, अम्ल और लवण उसकी वृद्धि करते हैं।

दोषों पर रसों का प्रभाव

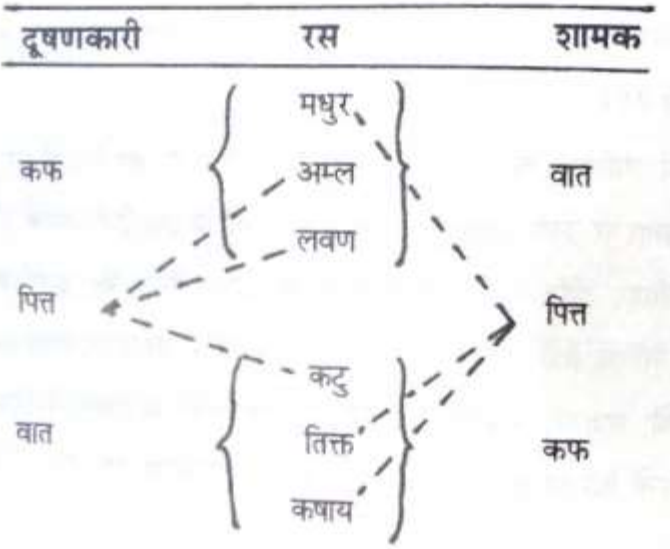

छह रसों की पांचभौतिक संरचना निम्नवत् हैं :

१. मधुर = पृथ्वी + अप
२. अम्ल = पृथ्वी + तेजस
३. लवण = जल + तेजस
४. कटु = वायु + तेजस
५. तिक्त = वायु + आकाश

६. कषाय = वायु + पृथ्वी

आहार और पोषण के संदर्भ में रस का महत्व है और चिकित्सा में वीर्य का – *'आहारं र सप्रधानम्' और 'औषधं वीर्यप्रधानम्'।* अतः मनुष्य को आहार का चयन करने में रस का व औषध चयन में वीर्य का ध्यान रखना चाहिये।

(क) धातुओं पर क्रिया

एकमात्र मधुर ही ऐसा रस है जो धातुओं और सामान्य प्राणवत्ता के विकास को प्रोत्साहित करता है। यद्यपि अम्ल रस इस प्रक्रिया में सहायक होता है परंतु शुक्रधातु का ह्रास करने के कारण अम्ल रस बल्य नहीं है। लवण रस जल के अंश को बढ़ाता है और शरीर में शिथिलता उत्पन्न करता है। कटु, तिक्त और कषाय में, दुबला कर देने का प्रभाव पाया जाता है, विशेष रूप से तिक्त रस में जो मेदा, वसा, मज्जा और लसीका का ह्रास करता है जिनसे बृंहण या वृद्धि होती है।

(ख) मलों पर क्रिया

जिन रसों में पृथ्वी और जल महाभूतों की अधिकता होती है जैसे मधुर, अम्ल और लवण वे दस्तावर, मूत्रवर्धक और वातानुलोमक होते हैं। जिन रसों में वायु की प्रधानता होती है जैसे कटु, तिक्त और कषाय वे मलबंधक, मूत्ररोधी और अपानवायु के प्रतिरोधक होते हैं। इन तीनों में कषाय रस स्तंभन के लिए श्रेष्ठ है और इसका अतिसार, बहुमूत्रता और रक्तस्राव आदि में प्रयोग किया जाता है।

(ग) अग्नि पर क्रिया

आग्नेय रस अर्थात् वे जिनमें अग्नि की प्रधानता है जैसे अम्ल, लवण और कटु, वे दीपन तथा पाचन होते हैं। तिक्त रस यद्यपि सौम्य वर्गों में आता है फिर भी यह समान वायु की वृद्धि करके और कफ को सोखकर (जो मंदाग्नि उत्पन्न करता है)

अग्नि को उत्तेजित करता है। मधुर और कषाय रस अग्नि पर विपरीत प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

(घ) स्रोतसों पर क्रिया

कटु, तिक्त और लवण रस स्रोतो शोधन हैं अर्थात ये स्रोतसों की सफाई करते हैं। यह कार्य ये वायु और आकाश महाभूतों के कारण कर पाते हैं जो कि तरल को सोखकर अवरोधक द्रव्य निकाल देते हैं। इसे प्रमाथि गुण कहते हैं। यह गुण अभिष्यंदि के विपरीत है। अभिष्यंदि द्रव्य स्रोतसों में अवरोध उत्पन्न करते हैं। तिक्त रस भी वायु के कारण चिकनी सामग्री को सोखकर और आकाश के कारण स्थान बनाकर प्रमाथि हो जाता है। लवण रस अवरोध को द्रवीभूत कर देता है और अपने व्यवायि और विकासि गुणों के कारण सूक्ष्म स्रोतसों में गमन कर सकता है। शेष मधुर, अम्ल और कषाय रस स्रोतोरोधक अर्थात स्रोतसों में अवरोध उत्पन्न करने वाले हैं।

सामान्य तंत्रपरक क्रियाएं

मधुर रस – सुखद, मेध्य, गर्भस्रावनिरोधी, स्तन्यवर्धक, विषप्रतिरोधक, प्यास, हृदय, गला, त्वचा तथा बालों के लिए हितकारक।

अम्ल रस – प्रीतिकर, लारवर्द्धक, भूख बढ़ाने वाली, पाचक एवं रक्तस्रावकर (रक्त का जमना रोकते है)।

लवण रस – आर्द्रकर, पाचक, भूख बढ़ाने वाला, लार बहाने वाला, कफनिस्सारक, मूत्रवर्द्धक और रक्तदूषक है।

कटु रस – तंत्रिका उत्तेजक, पुनरुज्जीवक, मुखशुद्धिकर, क्रिमिनाशी, रक्तस्रावबर्धक और अग्निमांद्य, हृदयविकार और त्वग्विकारों के लिए हितकर है।

तिक्त रस – क्रिमिनाशक, रक्त शोधक, ज्वररोधी, मवाद, विष और वीर्य का निष्कासक; अरुचि, चर्मरोग तथा जलन में उपयोगी।

कषायरस – स्वास्थ्यकर, अवशोषक, मूत्र कम करने वाला और त्वचा के रंग को सामान्य बनाने वाला है।

द्वितीय परिशिष्ट में विविध रसों के अन्यगुण, उनके चिकित्सीय उपयोग, अपथ्यनिर्देशन एवं अतिसेवन के कुप्रभावों के बारे में विस्तार से चर्चा है।

विपाक

शरीर पर अंतिम परिणाम प्रदर्शित करने से पहले छहों रसों का पाचन, आत्मसात्करण एवं उपापचय होता है। विपाक वास्तव में अंतिम उत्पाद है, जो अंतर्गृहीत आहार के अवस्थापाक–पाचन की विभिन्न अवस्थाओं और प्रपाक (प्रारंभिक रूपांतरण) के बाद होता है। सुश्रुत ने विपाक के दो भेद, गुरु और लघु किये हैं जो शरीर पर आहार के अंतिम प्रभाव बृंहण और लंघन पर आधारित हैं। गुरु विपाक की तुलना उपचयी उपापचय से और लघु विपाक की अपचयी उपापचय से की जा सकती है। चरक ने दोषों के आधार पर तीन भेद किये हैं – यहां केवल मधुर (कफ दोष) उपचयी उपापचय के अंतर्गत आता है और अन्य दो अम्ल (पित्त दोष) और कटु (वात दोष) अपचयी वर्ग में आते हैं। सुश्रुत का वर्गीकरण धातुओं पर प्रभाव के अनुसार है और चरक का वर्गीकरण दोषों पर आधारित है।

चरक के अनुसार विपाक के प्रभाव

विपाक	गुण	दोष	धातु	मल
१. मधुर	स्निग्ध, गुरु	कफवर्द्धक	शुक्रवर्द्धक	मृदुविरेचक एवं मूत्रल
२. अम्ल	स्निग्ध, लघु	पित्तवर्द्धक	शुक्रघातक	मृदुविरेचक एवं मूत्रल
३. कटु	रूक्ष, लघु	वातवर्द्धक	शुक्रघातक	मलावरोधक, प्रतिमूत्रल

विपाक की उत्पत्ति

विपाक पंचमहाभूतों पर निर्भर है। यदि अवस्थापाक के समय पृथ्वी और जल की अधिकता होती है तो विपाक मधुर (गुरु) होता है और अग्नि–वायु–आकाश की अधिकता होने पर विपाक कटु या अम्ल (लघु) होता है।

गुण क्या है ?

आहार या औषध के गुण द्रव्य के सहज एवं अपृथक्करणीय विशेषताएं हैं। गुणों की कुल संख्या ४१ है जिनमें से २० गुरु आदि (भेषजगुण) हैं, दस पराभेषजगुण हैं, पांच विशिष्ट और छह आध्यात्मिक (मानसिक) हैं। गुरु आदि गुण आहार और औषध के गुणों का वर्णन करने में प्रयुक्त होते हैं और इस संदर्भ में हम उक्त २० गुणों को दस जोड़ों में निहित करते हैं।

१.	गुरु (भारी)	लघु (हल्का)
२.	मंद (धीमा)	तीक्ष्ण (तेज)
३.	शीत (ठंडा)	उष्ण (गरम)
४.	स्निग्ध (चिकना)	रूक्ष
५.	श्लक्ष्ण (चिकना)	खर (रुखा)
६.	सांद्र (चिपचिपा)	द्रव(तरल)
७.	मृदु (कोमल)	कठिन (सख्त)
८.	स्थिर (अटल)	सर (अस्थिर, चलता हुआ)
९.	सूक्ष्म (महीन)	स्थूल (मोटा)
१०.	विशद (स्पष्ट, पंकरहित)	पिच्छिल (पंकिल)

गुण हमारे आहार–द्रव्यों के तात्विक पैरामीटर हैं जिनसे हम उनका मूल्यांकन करते हैं। यह रस और विपाक से बढ़–चढ़ कर है। गुण के प्रभाव के सामने रस भी दब जाता है। विपाक भी कुछ–कुछ गुण पर निर्भर करता है। जैसे पानी का रस

मधुर है अतः वह कफकारक है किन्तु पिया हुआ गरम पानी उष्ण होने के कारण अन्यथा सिद्ध होता है। यहां पानी के उष्ण गुण ने उसके मधुर रस का खंडन कर दिया है जिससे अब वह कफकारक नहीं रहा।

जो भी खाद्य गुरु गुणी है उसमें पृथ्वी और जल की अधिकता है और वह शरीर का बृंहण (बढ़ाने वाला) अवश्य करता है। वह गुरु विपाक या मधुर विपाक द्रव्य होगा। आहार और पोषण के संदर्भ में रस, गुण और विपाक ही महत्वपूर्ण कसौटी हैं। निघंटुओं में उन समस्त खाद्य एवं औषध द्रव्यों के गुणों के विषय में भंडार भरा है, जिनका प्रयोग हम करते हैं। निघंटुओं का एवं उन मापदंडों का संक्षिप्त विवरण हम तृतीय परिशिष्ट में दे रहे हैं जिनका हमारे पूर्वाचार्यों ने प्रयोग किया है।

---

* *चिकित्सा में द्रव्य (औषध) के 'वीर्य' और 'प्रभाव' का ही अधिक महत्व है। वीर्य वह 'पोटेन्सी' या अन्तःशक्ति है, जिसके कारण द्रव्य कार्य करता है। प्रत्येक द्रव्य में एक ऐसा निहित घटक होता है जिसके कारण वह कार्य कर पाता है। इस घटक के अभाव में द्रव्य व्यर्थ हो जाता है। 'प्रभाव' द्रव्य की विशिष्ट अन्तःशक्ति है। इसका हमें ज्ञान तब होता है जब दो द्रव्यों के गुण, वीर्य, विपाक आदि समान होते है, परंतु उनके कार्य अलग होते हैं जैसे दंती, (बैलिओस्पर्मम मोंटेनम) और प्लंबेगो जीलानिका यानी चित्रक, अर्जुन (टर्मिनेलिया अर्जुना), शिरीष (ऐलबिझिया लेब्बेक) आदि। ऐसा तत्तद् द्रव्यों के प्रभाव के कारण हो पाता है कि अर्जुन हृद्बलवर्धक है जबकि शिरीष विषहर।*

अग्नि

हम जिस आहार का सेवन करते है वह हमारी आँतों के ऊतकों (जिन्हें कोष्ठ कहते है) द्वारा सोख लिये जाने के लिए केवल जठराग्नि पर निर्भर करता है। जो आहार धातुओं, ओज और शक्ति तथा रूप को बढ़ाता है, पोषण देता है, वह अग्नि पर निर्भर करता है। क्योंकि उसके बिना पाचन नहीं होता और पाचन के बिना आहार से रस और धातु नहीं बनती। आहार का गुण और परिमाण व्यक्ति-व्यक्ति के लिए उसकी अपनी जठराग्नि के अनुरूप अलग होता है।

जठराग्नि का रखरखाव उपयुक्त गुण और परिमाण के भोजन के नियमित सेवन से होता है क्योंकि अनियमित रूप में कभी अत्यधिक और कभी बहुत कम खाना, जठराग्नि की शक्ति के अनुपात से अधिक या कम खाना उसे कमजोर कर देगा। जठराग्नि को उत्तम स्थिति में बनाये रखना चाहिए क्योंकि यही उत्तम स्वास्थ्य का एक महत्वपूर्ण लक्षण है। आत्मा, इन्द्रिय और मन की प्रसन्नता के साथ दोष, धातु, अग्नि और मलों के संतुलन को सुश्रुत ने अनुसार स्वास्थ्य कहा है (सुश्रुत संहिता सूत्र. १५/४८)।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार जठराग्नि तेजस या तेजो महाभूत का एक प्रकार है जो हमारे शरीर में विद्यमान है और आहार के पाचन में सहायक है। अष्टांगसंग्रह के अनुसार दोष, धातु और मलों के निर्माण में होने वाले विविध स्तरों में परिवर्तन से उत्पन्न देह ऊष्मा या आंतरिक अग्नि जठराग्नि है।

अग्नि के कार्य और महत्व

चरक संहिता के अनुसार आयु, रूप, ऊर्जा, ऊष्माजनक प्रक्रियाएं, शक्ति, स्वास्थ्य, उत्साह, मांसलता, कांति, रोग प्रतिरक्षा और प्राण इन सबका कारण अग्नि

है। इस अग्नि के बुझने पर व्यक्ति मर जाता है, यदि यह सुचारु रूप से कार्य करती रहे तो व्यक्ति दीर्घजीवी और विकाररहित रहता है और यदि यह अग्नि अव्यवस्थित हो जाय तो व्यक्ति बीमार पड़ जाता है। अतः अग्नि स्वास्थ्य और रोग दोनों का मूल कारण है (चरकसंहिता, चिकित्सा, १५/१,२)। यद्यपि यह कहा गया है कि अग्नि खाये हुए अन्न को जला डालती है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अग्नि हर प्रकार के और किसी भी परिमाण में खाए भोजन को कभी भी जला (पाचन) देती है। चरक ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अग्नि समयानुकूल संतुलित आहार का पाचन करती है और वही आयुष्य होता है।

अग्नि का स्वरूप और उसकी उपस्थिति का आभास

तर्क संग्रह में दी गयी जठराग्नि की परिभाषा के अनुसार यह हमारे शरीर में विद्यमान तेजो महाभूत है। परन्तु तेजो महाभूत का शरीर में अग्नि की लपटों के रूप में रहना असंभव है। यह हमारे शरीर में पित्त या पित्त दोष के रूप में स्थित है और इसका शरीर के साथ समवाय–अव्यभिचारी संबंध (अटूट पारस्परिक नाता है)। इस संबंध में दो मत हैं। एक के अनुसार पित्त और अग्नि का संबंध इतना ही है कि शरीरस्थ पित्त को अग्नि कहते हैं और वह शरीर के समस्त कार्य करता है। अग्नि और पित्त में आश्रय–आश्रयी भाव है। दूसरे मत के अनुसार अग्नि और पित्त में कोई भाव–भेद नहीं है। वरन् वे दोनो एक ही हैं।

इस संदर्भ में हमारे लिए प्रथम मत को स्वीकार करते हुए यह मानना सरल होगा कि अग्नि पित्त के माध्यम से कार्य करती है, निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा कि अग्नि और पित्त दो अलग–अलग लेकिन परस्पर संबद्ध पदार्थ हैं। घी को पित्तवातहर अर्थात् पित्त और वात दोनों का नाश करने वाला बताया गया है जबकि वह अग्निदीपन (अग्नि को प्रज्वलित करने वाला) भी है, अतः हम कह सकते हैं

कि अग्नि और पित्त दो अलग चीजें हैं, यद्यपि वे एक दूसरे से संबद्ध भी हैं। इस सिद्धांत को मान लेने के बाद हमें अग्नि या पित्त के पांच भेद करने होंगे।

पाचकाग्नि/पाचकपित्त – जिसका संकेत आहार के समुचित अथवा विषम पाचन से मिलता है।

आलोचकाग्नि/आलोचकपित्त – जिसका संकेत दृष्टिशक्ति या उसके अभाव से मिलता है।

भ्राजकाग्नि/भ्राजक पित्त – यह त्वचा के सामान्य अथवा असामान्य रंग से तथा शरीर के नाप से संबंधित है।

साधकाग्नि/साधक पित्त – इसका संकेत साहस और निर्भयता अथवा कायरता में मिलता है।

रंजकाग्नि/ रंजक पित्त – इसकी क्रिया से शरीर में रस धातु का रक्तधातु में रूपांतरण होता है।

अग्नि के प्रकार

अग्नि के तीन स्पष्ट स्तर उनके गुणों के आधार पर चरक ने गिनाये हैं :

जठराग्नि व्यापार	१
भूताग्नि व्यापार	५
धात्वग्नि व्यापार	७
कुल	१३

जठराग्नि का व्यापार या कार्य अंतर्गृहीत आहार का पाचन है, आहार रस (पाचन का उत्पाद/पाचन का सार) का सूक्ष्म रूप में ऐसा परिवर्तन, कि वह धात्वग्नि के लिए ग्राह्य हो सके, यह भूताग्नि का काम या व्यापार है। धात्वग्नि व्यापार वह क्रिया है जो एक धातु को अगली धातु में जैसे रस को रक्त में, रक्त को मांस में परिवर्तित करती है, शेष दो अग्नियों के विपरीत ये भूताग्नियां रसादि धातुओं पर क्रिया करने के

पश्चात् किसी नवीन उत्पाद का निर्माण नहीं करतीं। वे केवल महाभूतों में अपने-अपने अंश का और अधिक पाचन करके रस की सांद्रता और सूक्ष्मता में परिवर्तन करती हैं।

वास्तव में अग्नि तेरह प्रकार की है जिनमें एक जठराग्नि है। शेष बारह में सात धात्वग्नियां और पांच भूताग्नियां हैं। इनमें जठराग्नि को सबसे महत्वपूर्ण माना जा सकता है। यह गृहीत आहार के पाचन और आत्मसात्करण का काम करती है। आहार हमारे अस्तित्व के लिए अनिवार्य वस्तु है। जठराग्नि द्वारा पचाये हुए अन्न से ही शरीर के ऊतक या धातुएं बनती हैं। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि वे सभी जीवधारियों में वैश्वानर (अग्नि) के रूप में उपस्थित हैं

(भगवद्गीता) अ. १५, श्लोक १४)

चरक का कथन है कि जठराग्नि सभी अग्नियों की स्वामी है क्योंकि अन्य अग्नियों का घटना-बढ़ना जठराग्नि पर निर्भर है। धातु एवं भूताग्नियों के लिए जठराग्नि ही जिम्मेवार है और बनी हुई धातुओं के गुण और शक्ति के लिए क्रमशः धात्वग्नि और भूताग्नियां जिम्मेवार हैं। धातुओं के निर्माण में मलों और दोषों का निर्माण समाविष्ट है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए जठराग्नि की सामान्यता अनिवार्य है। सुश्रुत की स्वस्थ पुरुष की परिभाषा में समाग्नि एक अनिवार्य शर्त है। अतः उचित और स्वास्थ्यकर आहार और पेय द्वारा इसका अनुरक्षण सावधानीपूर्वक करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है क्योंकि आयु और शक्ति का अनुरक्षण जठराग्नि पर निर्भर है।

स्वभाव के अनुसार अग्नि के भेद

स्वभावतः अग्नि चार प्रकार की पायी जाती है, मंद, तीक्ष्ण, विषम और सम।

मंदाग्नि कफ दोष की अधिकता से होती है जिसमें अग्नि सामान्य की अपेक्षा कम होती है।

तीक्ष्णाग्नि पित्त दोष की अधिकता से होती है और इसमें अग्नि सामान्य की अपेक्षा तेज होती है। इसकी अति को भस्मक रोग कहते हैं जिसमें अग्नि इतनी तेज़ होती है कि जो कुछ भी गले के नीचे उतारा जाता है वह खाते-खाते ही पच जाता है और भूख बनी रहती है।

विषमाग्नि वातदूषण या वातवृद्धि के कारण उत्पन्न होती है, इससें अग्नि बेतरतीब अर्थात् कभी कम, कभी तेज़ होती है।

समाग्नि जैसाकि नाम से स्पष्ट है संतुलित और एक समान रहती है।

अग्नि की असामान्य अवस्थाएं

अग्नि की असामान्य अवस्थाएं दो वर्गों में विभाजित की जा सकती है :

शरीर क्रियात्मक अवस्थाएं

शरीर क्रियापरक अवस्थाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:

- गरमी के मौसम में हमारे शरीर में अग्नि की तीव्रता कम रहती है जिससे हमें ग्रीष्म ऋतु में भूख कम लगती है।
- कुछ दिनों के उपवास के बाद भूख न लगना।
- आंतरिक और बाह्य स्नेहन और स्वेदन चिकित्सा के बाद, यहां मालिश से तात्पर्य अंतर एवं बाह्य स्नेहन दोनो से है।

उपर्युक्त किन्ही भी स्थितियों में हमें ढेर सारा भारी खाना खाकर जठराग्नि पर बोझ नही डालना चाहिए। ऐसे में हल्का और सुपाच्य आहार अल्पमात्रा में लेते हुए आहार की मात्रा क्रमशः बढ़ानी चाहिए। पेट की आग को धीरे-धीरे भड़का कर उसका अनुरक्षण भी करना चाहिए। चरक ने वमनोत्तर चर्या में लिखा है कि जिस प्रकार सूखी घास और कंडों की सहायता से धीरे-धीरे एक छोटी-सी चिनगारी से आग पैदा की जाती है जो बाद में बहुत बड़ा रूप लेकर एक स्थिर आंच में बदल

सकती है और सब कुछ जला सकती है, उसी प्रकार जठराग्नि भी तरल पेया आदि के सेवन से बढ़ायी जा सकती है।

वैकारिक अवस्थाएं

कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:

- ग्रहणी, ज्वर, अतिसार, अर्श आदि रोग स्थितियाँ
- 'आम' की अवस्था और
- बेतरतीब आहार की आदत की अवस्था।

ज्वर जैसी अवस्था में भी पाचन शक्ति क्षीण हो जाती है क्योंकि जठराग्नि का निर्माण वातादि दोषों से होता है जो आमाशय में जाकर आम दोष (जो अनुचित

पाचन का परिणाम है। जो भोजन पर गलत अग्नि की क्रिया से उत्पन्न रस धातु है) से मिल जाती है और स्रोतों का अवरोध करती है (कृपया देखें 'आम' अनुच्छेद)। इस प्रकार बाहर निकली हुई जठराग्नि सारे शरीर में फैलकर उसका ताप बढ़ा देती है और पाचन शक्ति को घटा भी देती है। इस दृष्टि से अनशन या 'ज्वर को भूखों मारना' वास्तव में एक श्रेष्ठ उपाय है। क्योंकि आम दोष का पाचन हो जाने से जठराग्नि पुनः सामान्य हो जाती है।

असामान्य अग्नि का उपचार

कमज़ोर जठराग्नि की वैकारिक एवं शरीरक्रियात्मक दोनों अवस्थाओं में कृश अग्नि पर अधिभार नहीं लादना चाहिए। इसे दीपन एवं आमपाचन औषधियों तथा हल्के सरलता से पचने वाले पेया, विलेपी आदि आहार द्वारा धीरे-धीरे बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। विलेपी मूंग की दाल से निर्मित पतली दलिया को कहते हैं।

आम

न पचे हुए पदार्थों के इकट्ठा होने को आम कहते हैं। आम का अर्थ कच्चा, अपक्व, न पकाया हुआ, हज़म न हुआ ऐसा है। यह आहार पर अग्नि की पूर्ण क्रिया का परिणाम दोष है और रोगोत्पत्ति का प्रधान कारण है। इसलिये रोग को आमय भी कहते है।

आम की प्रकृति

कहा गया है कि :

'अविपक्वं असंयुक्तं दुर्गन्धं बहुपिच्छिलं सादनं सर्वगात्राणां आमं इत्यभिधीयते"

उष्मणां अल्पबलत्वेन धातुं आद्यं अपाचितं दुष्टं आमाशयगतं रसं आमं प्रचक्ष्यते।

अर्थात् यह अपूर्ण पाचन रूपी, असमरूप, दुर्गन्धयुक्त, अत्यन्त चिपचिपा और संपूर्ण शरीर में सुस्ती उत्पन्न करने वाला द्रव्य है। अर्थात् जठराग्नि की मंदता के कारण आहार रस का अपूर्ण पाचन होता है जिसका अंतिम परिणाम अर्थात् आहार रसों का निर्माण ठीक नहीं होता। अतः उसका अवशोषण भी धीरे–धीरे होता है जिससे यह पेट में बहुत समय तक रह जाता है। पेट में देर तक रहने से उसका किण्वन और सड़न होने लगती है। ऐसे आहार रस को आम कहते हैं। आम के निर्माण का कारण जठराग्नि और धात्वग्नि की मंदता, मलसंचय (कचरा निष्कासन प्रणाली की गड़बड़ी), दोष संम्मूर्च्छन (बिगड़े हुए दोषों का मेल) क्रिमिविष, संक्रमण आदि हैं।

इस आम का एक अंश तंत्र में अवशोषित होकर निम्न प्रकार से परिणामित होता है :

१.	स्रोतोरोध	स्रोतसों में अवरोध
२.	बलभ्रंश	शारीरिक क्षीणता और भार हानि

३.	गौरव	शरीर का भारीपन
४.	अनिलमूढता	वात की क्रिया में विकार
५.	आलस्य	थकान
६.	अपक्ति	अपच
७.	निष्ठीवन	मुंह से चिपचिपी लार बहना
८.	मलसंग	कब्ज
९.	अरुचि	क्षुधानाश
१०.	क्लम	ऊब

आम की परिकल्पना आहार, पोषण तथा रोगों के उपचार सभी में महत्वपूर्ण हैं। ऐसे आहार से बचना चाहिए जिससे आम की उत्पत्ति हो और रोगा का उपचार करते समय भी रोग की आम (पक्व) या निराम अवस्था पर पैनी नज़र रखनी चाहिए।

प्रकृति और ऋतु के अनुसार आहार

प्रकृति शब्द से प्राकृतिक शरीर का अर्थ भी लिया जाता है। प्रकृति या शरीर के गठन से दोषों की (और धातुओं तथा मलों की भी) प्रबलता को समझने में सहायता मिलती है। यह व्यक्ति के शरीर में रचनात्मक तथा क्रियात्मक विकारों के अभाव की स्थिति है। प्रकृति का ज्ञान और मूल्यांकन स्वास्थ्य के अनुरक्षण और रोगों की चिकित्सा दोनों में परमावश्यक हैं। हमें अपने दैनिक जीवन में अक्सर देखने को मिलता है कि दो व्यक्ति, जो एक ही जैसा खान-पान करते हैं उनमें से एक स्वस्थ हैं और दूसरा अस्वस्थ। इससे संकेत मिलता है कि हमारे शरीर में कोई ऐसा घटक भी है जो आहार और पेय को स्वास्थ्यकर अथवा अस्वास्थ्यकर बना देता है। उदाहरण के लिए दो समान उम्र, उंचाई, भार खाने-पीने की मात्रा आदि के व्यक्तियों के खाने-पीने की आवश्यकता का समय अलग-अलग हो सकता है। यदि उन दोनों को एक समान पोषाहार और व्यायाम दिया जाय तो भी उनकी वृद्धि में अंतर होता है। एक व्यक्ति की क्रियाशीलता दूसरों से भिन्न हो सकती है। किसी की क्रियाशीलता तीव्र, किसी की मध्यम और किसी की अस्थिर हो सकती है। ये बातें प्रकृति अथवा शारीरिक गठन के आधार पर समझी जा सकती हैं।

स्वास्थ्य के रखरखाव के लिए व्यक्ति को अपने शरीर के गठन या प्रकृति के अनुसार ही सदा आहार ग्रहण करना चाहिए। नीचे की सारणी में अपनी प्रकृति के अनुसार स्वीकार्य और त्याज्य आहार का निर्देश प्रस्तुत है।

	आहार	वात	पित्त	कफ
१.	मधुर, अम्ल और लवण रस	हां	नहीं	नहीं
२.	हल्का, सूखा, रूखा और ठंडे खाद्य	नहीं	नहीं	हां
३.	तेल, तिल, मक्का और मटर	हां	नहीं	नहीं
४.	रसभरी, आम, पपीता	हां	नहीं	नहीं
५.	दही	हां	नहीं	नहीं
६.	गरम, खट्टा और नमकीन	अल्प	नहीं	अल्प
७.	मक्खन, घी, मलाई	हां	हां	नहीं
८.	शूकर मांस	हां	हां	नहीं
९.	समुद्री आहार	हां	नहीं	नहीं
१०.	मसाले (मिर्च, लौंग, दालचीनी)	कम	नहीं	हां
११.	चिकना, भारी, तैलाक्त खाद्य	हां	नहीं	नहीं
१२.	संतरे, अनन्नास, केला, अंगूर, आलूचा	हां	हां	नहीं
१३.	शिम्बीधान्य (उड़द के अतिरिक्त)	नहीं	हां	हां
१४.	उड़द की दाल	हां	नहीं	नहीं
१५.	गाजर, चुकंदर, प्याज, लहसुन	हां	नहीं	हां
१६.	चिकन, टर्की	हां	हां	हां

वात-पित्त, वात-कफ आदि मिश्र प्रकृति के व्यक्तियों के लिए उपर्युक्त खाद्य का मिले-जुले रूप में ग्रहण करने योग्य अथवा अयोग्य है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रकृति के अनुरूप आहार ग्रहण करना चाहिए जिससे हर मौसम में उसके शरीरस्थ दोषों में साम्यावस्था बनी रह सके। एक उदाहरण से इस बात को स्पष्ट किया जा

सकता है। यदि कोई पित्त प्रकृति का २५ वर्षीय व्यक्ति पित्तवृद्धि करने वाला आहार लेता है तो उसे पित्तज रोग होंगे। यदि वही व्यक्ति घी, दूध, मिष्टान्न, खरबूज, तरबूज और अंगूर ले तो उसके शरीरस्थ दोष विकृत नहीं होंगे और उसकी देह में आहार द्वारा आवर्धित प्रकृति और दोष संतुलित रहेंगे।

ऋतु

आयुर्वेदीय आचार्यों ने प्रत्येक ऋतु में भिन्न-भिन्न चर्या के पालन पर अत्यधिक जोर दिया है। सभी आचार्यों ने ऋतुचर्या अध्याय के अंतर्गत प्रत्येक मौसम के विधि-निषेधों की विस्तार से चर्चा की है। प्रत्येक मौसम में पर्यावरण में स्थूल परिवर्तन होते हैं जो हमारे शरीर में प्रतिबिंबित होते हैं। दोष की अधिकता में परिवर्तन आ जाता है। जैसे, उदाहरण के लिए वसंत ऋतु में कफ का स्तर बढ़ जाता है। वसंत ऋतु में कफ की दूषित अवस्था उसी ऋतु में बढ़े हुए कफ के कारण नहीं होती। वस्तुतः कफ का संचय हेमंत और शिशिर ऋतुओं में होता है पर वह संचयावस्था में प्रकट नहीं होता। जब वसंत के आगमन पर सूर्य की किरणों में किंचित प्रखरता आती है तो पूर्वसंचित कफ पिघलने और प्रसरावस्था (गतिशील अवस्था) में जाने लगता है और तब कफ वृद्धि के लक्षण धीरे-धीरे प्रकट होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में, यदि व्यक्ति को इस बात की जानकारी न हो और वह कफकारक आहार लेता रहे तो कफ और भी बिगड़ जाता है और फिर कोई भी कफ रोग उत्पन्न हो सकता है। ऐसी ही स्थिति वर्षा में वात की और शरद में पित्त की होती है।

मौसमी परिवर्तनों का जठराग्नि पर भी गंभीर प्रभाव पड़ता है। हेमंत और शिशिर ऋतुओं में बाहर की ठंडी हवाओं के प्रभाव से शरीर की समस्त अग्नियाँ अंतर्मुखी होकर कोष्ठ में घनीभूत हो पेट में संचित हो जाती हैं। इससे जठराग्नि प्रज्वलित होकर तेज़ हो जाती है। ऐसी स्थिति में यदि उसे पर्याप्त ईंधन यानी आहार न मिले तो अग्नि शरीर में उपस्थित ऊतकों को जलाने लगती है और स्वयं भी ईंधन या खाद्य

ऋतुओं में परिवर्तन

हमारे समाज में मौसम के साथ-साथ पाचन-शक्ति में होने वाले परिवर्तनों को भलीभांति समझा गया है। मौसम के बदलने के साथ-साथ हमारे आहार में बदलाव की परंपरा में यह तथ्य प्रतिबिंबित है। उदाहरण के लिए जाड़ों में अग्नि की अच्छी स्थिति को ध्यान में रखते हुए ग्रीष्म की अपेक्षा गुरु आहार नाश्ते में लिया जाता है। इसी कारण दक्षिण भारत में सर्दी के मौसम में आने वाले त्यौहार गोकुलाष्टमी पर विविध मिष्टान्न बनाये जाते हैं जो भारी होते हैं। इसके विपरीत रामनवमी में, जोकि गरमी में मनायी जाती है, केवल 'नीरमोर' (पनियल मट्ठा) और नींबू का शरबत दिया जाता है।

स्वास्थ्य पर मौसमों के प्रभाव को भी ध्यान में रखा गया है। जैसे आंध्र प्रदेश में और अन्य अनेक प्रांतों में वसंत ऋतु के प्रारंभ में नीम के फूल और पत्तियाँ खाने का चलन है। यह एक स्वस्थ परंपरा है, क्योंकि वसंत में कफ दूषित हो जाता है जिसे ठीक करने के लिए नीम की पत्तियों और फूलों का सेवन रामबाण का काम करता है।

के अभाव में बुझ जाती है। वही अग्नि, ग्रीष्म और शरद् ऋतुओं में इतनी क्षीण हो जाती है कि वह अधिक ईंधन या खाद्य को पचाने में असमर्थ रहती है और जठराग्नि वैसे ही बुझने लगती है जैसे अत्यंत मंदी आंच पर ढेरों ईंधन रख देने से मंदी आंच बुझ जाती है।

दोनों अवस्थाओं में अग्नि की स्थिति सामान्य नहीं होती और उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया जाना चाहिए। अतः बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह पर्यावरण के परिवर्तनों के संदर्भ में शरीरगत परिवर्तनों को जानकर अपने स्वास्थ्य की रक्षा के लिए अपनी आहार संबंधी आदतों में परिवर्तन करे। जाड़ों में गुरु और स्निग्ध पदार्थों का आहार लेना चाहिए जबकि ग्रीष्म और शरद ऋतुओं में आहार की मात्रा कम करनी चाहिए और आहार हल्का और आसानी से पचनेवाला होना चाहिए ताकि वह जठराग्नि पर बोझ न बने।

अतः स्वास्थ्य परिरक्षण के लिए हमें वर्ष भर पर्यावरण में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार होने वाले दोष परिवर्तन और पाचन संबंधी परिवर्तनों का ध्यान रखकर ही आहार ग्रहण करना चाहिए।

आहार विधि

आहार विधि से तात्पर्य भोजन के नियमों से हैं। कब, कहां और कितना खाना चाहिए यह इन नियमों के द्वारा ज्ञात होता है। आहार की उपयोगिता को निर्धारित करने वाले कारक वाग्भट्ट (अष्टांग संग्रह सूत्र १०/४) के अनुसार निम्नलिखित हैं:

१. स्वभाव	आहार की प्रकृति
२. संयोग संयोजन,	आहार पदार्थों का संयोग
३. संस्कार	पकाना/तैयारी/प्रक्रिया
४. मात्रा	परिमाण
५. देश	निवासस्थान
५. काल	समय (खाने का समय, मौसम, व्यक्ति की उम्र अथवा रोग की अवस्था)
७. उपयोगावस्था	आहार ग्रहण करने का तरीका
८. उपभोक्ता	आहार ग्रहण करने वाला

इन कारकों का विस्तृत वर्णन यहाँ प्रस्तुत है।

स्वभाव या प्रकृति

आहार द्रव्यों के स्वभाव या प्रकृति से उनके गुरुत्व आदि आंतरिक गुणों का संकेत मिलता है, जैसे दूध, उड़द और शूकरमांस का गुरुत्व या बरसात के पानी, मूंग और हिरण के मांस का हल्कापन।

संयोगः- संयोग दो या इससे अधिक पदार्थों के संयोजन या मिलावट को कहते हैं। जिसके परिणामस्वरूप यौगिक में उनके अलग-अलग गुणों से नितांत भिन्न गुण प्रकट होते हैं। जब एक पदार्थ को दूसरे में मिलाते हैं तो यौगिक में भिन्न गुण आ जाते हैं। उनके अपने गुण नष्ट होकर नये गुण आ जाते हैं। जैसे धान का लावा लघु है लेकिन दूध में भिगोने पर वह भारी हो जाता है। इसी प्रकार समान मात्रा में शहद और घी का मिश्रण विष हो जाता है। (कतिपय असंगत मिलावटी खाद्यों का विस्तार से विरुद्धाहार शीर्षक से अन्यत्र वर्णन किया गया है।)

संस्कार अथवा करणः- संस्कार या करण से तात्पर्य खाद्य तैयार करने की विशेष प्रक्रिया है जिसके फलस्वरूप उसके सहज गुणों में परिवतन हो जाता है। यह निम्न प्रकारों से किया जाता है :

१. तोय	पानी मिलाकर
२. अग्निकर्ष	आग पर चढ़ाना
३. स्वच्छता	सफाई
४. मंथन	मथना
५. देश	स्थान(भंडारण)
६. काल	समय
७. वासन	सुवासकारी
८. भावना	अंतर्वेशन
९. कालप्रकर्षण	प्रस्तुतीकरण
१०. भाजन	बर्तन

हमारे दैनिक जीवन में उपर्युक्त का एक अच्छा दृष्टांत चावल पकाना है, कच्चा चावल खाने में अच्छा नहीं होता जिसे खाने से पेट दर्द और दस्त शुरू हो जाता है, लेकिन पानी और अग्नि के संयोजन से वह खाने लायक हो जाता है और चावल का

गुण भी बदल जाता है। कांसे के बर्तन में खौलाने और रखने से दूध जम जाता है। यह बर्तन या भाजन का प्रभाव है।

मात्रा:– पदार्थ के परिमाण को मात्रा कहते हैं। यहां पर हमारे भोजन की मात्रा से अभिप्राय हैं। इसे आहार राशि कहते हैं और इसे गुरुता और लघुता के आधार पर निश्चित करते हैं। सभी आचार्यों ने इसे महत्व दिया है। चरक और वाग्भट्ट दोनों ने मात्राशन पर अलग से अध्याय लिखे हैं और इन नियमों का उल्लंघन करने से होने वाले कुप्रभावों और रोगों का वर्णन किया है। अष्टांगहृदय और चरकसंहिता दोनों 'मात्राशी स्यात्' कहते हैं (अष्टांगसंग्रह सूत्र ११/३)। नियम बना दिया गया है कि मात्राशन का पूरा ध्यान रखा जाए अर्थात् जब भी कोई भोजन करे तो वह उचित परिमाण में ही खाना खाये। खाने की मात्रा या समुचित परिमाण व्यक्ति–व्यक्ति की अपनी पाचनशक्ति के अनुसार भिन्न होगी।

उचित मात्रा क्या है?

हमने देखा कि आहार की उचित मात्रा अग्नि की शक्ति के अनुसार बदलती है। अग्नि मौसम और व्यक्ति की उम्र पर निर्भर करती है। किन्तु सामान्य नियम यह है – *"यावदस्य अशनं अशितं अनुपहत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां गच्छति तावदस्य मात्रा प्रमाणं वेदितव्यं भवति"* (चरकसंहिता सूत्र ५/४), आहार की जो मात्रा साम्यावस्था (शरीरस्थ दोषों और धातुओं की) को बिगाड़े बगैर अच्छी तरह पच जाये और ठीक समय से उपापचयित हो जाये उसे उचित मात्रा समझना चाहिए।

हमें कैसे मालूम हो कि मात्रा उचित है ? यह गृहीत आहार के उचित समय में पच जाने से मालूम होती है। यदि किसी व्यक्ति के द्वारा शाम को खाया हुआ खाना सबेरे तक उपापचयित हो जाय और दोषों और धातुओं की साम्यावस्था अव्यवस्थित न हो तो उस व्यक्ति के लिए आहार की वह मात्रा उपयुक्त है। यह मात्रा निश्चय ही प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी उम्र, प्रकृति और अग्निबल के अनुसार अलग होगी।

इसके अतिरिक्त एक ही व्यक्ति की उपयुक्त मात्रा दिन के अलग-अलग समय में और अलग-अलग मौसमों में अलग-अलग होगी। अतः एक व्यक्ति की भी उपयुक्त मात्रा निर्धारित करना कठिन हो जाता है। सभी के लिए एक मानक मात्रा निर्धारित करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। व्यवहारतः व्यक्ति के आहार की उचित मात्रा उसकी पाचन शक्ति के अनुसार निर्धारित की जानी चाहिए। ऐसा भी नहीं है कि मात्रा के अनुसार खायी गयी हर चीज हमेशा दोषों और धातुओं की साम्यावस्था को नष्ट नहीं करेगी। कुछ खाद्य, जैसे मंदक (ठीक से न जमा हुई दही), लकुच (ऐपोकार्पस लकूचा) आदि मात्रानुसार होने पर भी साम्य को अव्यवस्थित कर देते हैं। ऐसा खाद्य के सहज दोष, प्रसंस्करण आदि के कारण होता हैं।

मात्रा के प्रकार

खाद्य की मात्रा दो प्रकार से निर्धारित की जा सकती है एक प्रकार में समूचे खाने की मात्रा का हिसाब लगाते हैं और दूसरे में भिन्न-भिन्न रस के खाद्य के अलग-अलग अवयवों। घटकों की मात्रा देखी जाती है। आहार की कुंल मात्रा उचित हो सकती है। किन्तु स्वाद के अनुसार उन्हें अलग-अलग जोड़ने पर उनका अनुपात संभव है, उचित न हो। इस प्रकार वे दोष और धातुओं में असाम्य उत्पन्न कर पाचन को कुप्रभावित कर सकते हैं। इस प्रकार हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम कुल आहार की उचित मात्रा के साथ-साथ रसानुसार आहार के घटकों की मात्रा भी निर्धारित करें।

मात्रा निर्धारण में आहार के गुण की भूमिका क्या है ? मात्रा निर्धारण में गुरुत्व और लघुत्व की बहुत बडी भूमिका है। यद्यपि इनमें से प्रत्येक की उचित मात्रा लेनी हैं, क्योंकि वाग्भट्ट कहते हैं *"त्रिभाग सौहित्यं अर्द्धसौहित्यं वा गुरुणां समुपदिश्यते, लघुनामपि च नातिसौहित्यं"* (अष्टांगसंग्रह सूत्र ११/७) अर्थात भारी आहार आधी या एक तिहाई तृप्ति तक लेना चाहिए अर्थात् व्यक्ति यदि एक

सेर खाने की क्षमता रखता है तो उसे आधा सेर या एक तिहाई सेर ही भारी आहार ग्रहण करना चाहिए।

लघुद्रव्यों में वायु और अग्नि महाभूतों की अधिकता होने से (जो कि जठराग्नि में भी होती है) वे अग्नि की शक्ति बढ़ाते हैं (अग्नि प्रदीपन) और अतः अतिसेवन से भी बड़ी हानि नहीं करते। दूसरी ओर गुरु द्रव्य जिनमें पृथ्वी और जल महाभूतों की अधिकता होती है (जो जठराग्नि के विरुद्ध हैं) अग्नि के गुणों का दमन-शमन करते हैं और इनकी मात्रा में थोड़ी सी अधिकता भी जठराग्नि की भारी हानि करती है। लघु आहार हालांकि आसानी से पचते हैं लेकिन इन्हें नियमित आदत के रूप में अतिमात्रा में नहीं लेना चाहिए क्योंकि ऐसा करना अग्नि के अनुरक्षण के लिए अनुकूल नहीं होता। नियमित रूप से अधिक मात्रा में किया हुआ लघु आहार अग्नि को बढ़ाएगा लेकिन बढ़ी हुई अग्नि अंततोगत्वा उचित ईंधन के बगैर बुझ जायगी। अमात्रा या अनुचित मात्रा दो प्रकार की होती है, हीनमात्रा यानी मात्रा से कम और अतिमात्रा अर्थात् मात्रा से अधिक।

अनुचित मात्रा में भोजन करने के लक्षण

हीनमात्रा में भोजन करने के निम्न प्रभाव शरीर पर होते हैं :- शारीरिक शक्ति, रूप, स्वास्थ्य, बुद्धिबल और इन्द्रियों की शक्ति में कमी, मल-मूत्र के निर्माण में कमी, और ओजस्विता और आयुष्य का ह्रास। इससे धातुओं की उत्तमता का व्याघात होता है। अशुभ लक्षण प्रकट होने लगते हैं और वातिक रोगों की उत्पत्ति होती है। इससे ओज तथा रक्तादि सात सार और त्वग्सार दुर्बल होते हैं और शरीर में रोग घर कर लेता है।

अतिमात्रा में आहार लेने से अस्थायी तौर पर समस्त दोष दूषित हो जाते हैं। वात से उदरशूल, पेट दर्द, कब्ज, बेचैनी, मुंह का सूखापन, बेहोशी, चक्कर, विषमाग्नि, पीठ-कमर और पहलुओं में जकड़न और सिकुड़न तथा स्रोतोकाठिन्य उत्पन्न

होता है। पित्त से ज्वर, अतिसार, जलन, प्यास, नशा और प्रलाप होता है। कफ से वमन, अरुचि, अपच, सामान्य से कम ताप, सुस्ती और शरीर में भारीपन होता है। अतिमात्रा से विषूचिका, अलसक और आमविष जैसे रोग भी संभव हैं।

देश–स्थान/आवास

चरक ने देश की व्याख्या आवास के रूप में की है। प्रत्येक क्षेत्र में उत्पन्न द्रव्य में उस क्षेत्र विशेष की विशेषता निहित होती है (चरक संहिता, विमान १/५) (इसमें उस व्यक्ति के आवास का अभिप्राय नहीं है जिसे कि द्रव्य का सेवन करना है)।

देश को जानने के लाभ क्या है?

(क) देश ज्ञान से किसी स्थान विशेष में उगने वाली औषधि या खाद्य के गुण को समझने में मदद मिलती है। जैसे मरुस्थल में उगी औषधियां लघु होती हैं।

(ख) भिन्न देशों में चरने वाले पशुओं के गुण भिन्न हैं। जैसे गीली भूमि के घने चरागाहों में विचरण करने वाली गायों का दूध सूखी भूमि पर चरने वाली उसी रंग, नस्ल और उम्र वाली गायों के दूध की अपेक्षा गुरु और स्निग्ध (भारी और चिकना) होगा।

(ग) देश ज्ञान से किसी नयी जगह में जाने पर वहां से अपना तादात्म्य स्थापित करने में मदद मिलती है, जिससे मनुष्य अपने शरीर में दोषसाम्य के अनुरक्षण में सफल हो पाता है। जैसे यदि उसे दलदली क्षेत्र में रहना पड़े तो वह उष्ण और रूक्ष आहार लेगा।

(घ) देश से हमें यह भी पता चलता है कि कब, किस क्षेत्र में, कौन–सा रोग, क्या रूप ले सकता है। जैसे यदि रोगी शुष्क भूमि या जांगल प्रदेश में है तो वात रोग अत्यंत प्रबल रूप में भड़क उठेगा।

काल :–काल अर्थात् समय। हेमंत आदि ऋतुओं के अनुसार आहार का चयन, रोग की अवस्था, उचित अथवा अनुचित पाचन की अवस्था और व्यक्ति का वय।

चरक ने यों परिभाषा की है *'कालो हि नित्यगश्च आवस्थिकश्च, तत्र आवस्थिकविकारमपेक्षते नित्यगस्तु ऋतुसात्म्यापेक्षः'* (चरकसंहिता विमान १-२२-२४) अर्थात काल रात और दिन रूपी समय का और व्यक्ति की अवस्था (जो स्वास्थ्य और उम्र से संबंधित है) दोनों का बोधक है।

काल के ज्ञान से लाभ

(क) मौसम और उसके प्रभावों की जानकारी से हम दोषविकारों से बच सकते हैं। जैसे वर्षाऋतु में वात प्रकोपावस्था में रहता है यह जानकारी न हो और व्यक्ति वातकारक आहार विहार में लीन रहे तो उसे गठिया जैसी वात प्रकोपजन्य व्याधियां बरसात में गंभीर रूप धारण कर परेशान करेंगी।

(ख) युवावस्था में जो कि पित्त का काल है तिल और कुलत्थ के सेवन से बचा जा सकता है जो कि पित्त विकार उत्पन्न करने वाले हैं।

(ग) काल हमें पाचन की स्थिति अर्थात् जीर्णावस्था या अजीर्णावस्था भी बताता है। जिससे हम यह निश्चित कर सकते हैं कि हमें भोजन अभी करना है या नहीं। यदि पूर्वभुक्त भोजन के पाचन की अवस्था की जानकारी के अभाव में व्यक्ति पुनः खा ले तो उसका आंशिक रूप से पचा हुआ आहार रस नये आहार रस से मिलकर वातादि दोषों को बिगाड़ कर विषूचिका आदि व्याधियों को जन्म दे सकता है।

(घ) यथा समय भोजन करके विष्टंभ (भोजन की गतिहीनता) यानी पेट दर्द आदि लक्षणों के साथ पाचन की कठिनाई, क्षुधानाश, क्षीणता आदि समस्त असमय भोजन से होने वाले दोषों से बचा जा सकता है। आशय यह कि ठीक समय पर जब भूख लगी हो तभी खाना चाहिए, न पहले न बाद में क्योंकि उससे सिवाय हानि के और कुछ नहीं हो सकता।

उपयोगावस्था/उपयोग संस्थाः–आहार संबंधी नियमों को कहते हैं ये सभी प्रायः पाचन के लक्षणों पर निर्भर हैं। (आगामी पृष्ठों में आहार नियमों की चर्चा की गयी है।)

उपयोक्ताः– इसमें व्यक्ति की आदतों का विचार है। चरक ने इसमें आठवें कारक अर्थात् खाने वाले का विचार किया है। उपभोक्ता भी आहार की उपयोगिता तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है क्योंकि वह किसी चीज का दीर्घकाल तक सेवन करे या न करे तो इससे उस व्यक्ति पर ऐसे आहार की क्रिया बदल जायगी।

आहार के नियम

प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह स्वस्थ हो या रोगी (कुछ रुग्णावस्थाओं को छोड़कर) आहार के नियमों का पालन करना चाहिए, चाहे वह अत्यंत स्वास्थ्यकर आहार का ही सेवन क्यों न कर रहा हो (चरक संहिता विमान १ और अष्टांगसंग्रह सूत्र १०)

आहार में निम्न विशेषताएं होनी चाहिए :

उष्णम्	गरम
स्निग्धं	चिकनाईदार
मात्रावत्	उपयुक्त परिमाण में
जीर्णे	पिछला खाया पचने के बाद
वीर्याविरुद्धं	परस्पर विरुद्ध वीर्य के न हों
इष्टे देशे	स्वच्छ और मन को प्रसन्नता देने वाले उचित स्थान में
इष्टसर्वोपकरणम्	समस्त सहायक सामग्री के साथ
नातिद्रुतम्	बहुत हड़बड़ी में नहीं
नातिविलंबितम्	अत्यंत धीमे भी नहीं

अजल्पन्	न बोलते हुए
अहसन्	बगैर हंसते हुए
तन्मना	भोजन में तल्लीन
आत्मानं सम्यक अभिसमीक्ष्य	अपना ध्यान अच्छी तरह रखते हुए

खाना गरम हो:- गरम खाना रुचिकर और अग्निवर्द्धक होता है। इसलिए वह आसानी से पच जाता है साथ ही वातानुलोमन (वात का अधोगमन) में भी सहायक होता है। यह कफ के पृथक्करण में भी सहायक होता है।

आहार स्निग्ध हो:- क्योंकि स्निग्ध आहार भी स्वादिष्ट और अग्निवर्द्धक होता है, शरीर की स्थूलता में वृद्धि करता है, इन्द्रियों की शक्ति बढ़ाता है, शक्ति और रूप में सुधार करता है।

आहार की मात्रा उचित हो:- उचित मात्रा में लिया हुआ आहार दीर्घायुष्कर होता है, दोषों की साम्यावस्था को बनाये रखता है। यह आसानी से पेट में चला जाता है और सरलता से पच जाता है और किसी भी प्रकार से अग्नि की क्षति नहीं करता।

पिछला खाया हुआ पच जाय तभी दोबारा खाना चाहिए वरना पिछला अपक्व रस बाद में खाये हुए आहार से मिल जाता है और तीनों दोषों को भड़का देता है। जब पिछला खाया पचने के बाद खाया जाता है तो त्रिदोष की साम्यावस्था नहीं बिगड़ती, अग्नि भड़कती है, भूख रहती है, डकार और स्रोतस साफ रहते हैं, हृदय और विसर्जन की क्रियाएं निर्बाध होती है, वात की अधोगति होती है और आहार का परिणाम धातुओं को दूषित नहीं करता इससे आयु भी बढ़ती है।

खाने में परस्पर विरुद्ध वीर्य वाले पदार्थ न हों:- खाने में यदि एक दूसरे के विपरीत वीर्य की वस्तुएं होंगी तो विरुद्धाहार के परिणामस्वरूप होने वाली व्याधियां (जिनका विवरण इस पुस्तक में अन्यत्र दिया गया है) हो सकती हैं। परस्पर विरुद्ध तासीर की चीजें, एक साथ न खाकर इन व्याधियों से बचा जा सकता है।

इष्ट देश और इष्ट सर्वोपकरणः– उचित स्थान और समस्त सहायक सामग्री के साथ भोजन करने से व्यक्ति पर भावात्मक दबाव नहीं पड़ेगा जो अनुचित स्थान में आवश्यक सामग्री के बिना खाने से हो सकता है। चरक ने बताया है कि उचित परिमाण में खाया हुआ स्वास्थ्यकर अन्न भी ठीक से नहीं पचता यदि खाने वाले के मन में भय, क्रोध, दुःख, अतिनिद्रा या अतिजागरण से उत्पन्न बेचैनी हो।

नातिद्रुतम्:– यदि बड़ी शीघ्रता से खाना खायेंगे तो वह गलत रास्ते में चला जा सकता है जिससे ठीक से आमाशय में नही जायेगा। इसके अतिरिक्त जल्दबाजी के कारण खाने का स्वाद नहीं आयेगा और न ही खाने वाले को खाने में मिले हुए अवांछनीय पदार्थ जैसे बाल, कंकड़ आदि का ही पता चलेगा और वह उसे भी खा जायेगा। इसके अतिरिक्त भोजन को पचाने वाले रसों का स्राव भी उचित मात्रा में नही हो सकेगा।

नातिविलंबितम्:– बहुत ही धीरे–धीरे भी नहीं खाना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से व्यक्ति को संतोष नहीं होगा और व्यक्ति मात्रा से अधिक भी खा जायेगा। इसके अतिरिक्त ऐसा करने से खाना ठंडा पड़ जायेगा और पाचन में अव्यवस्था उत्पन्न करेगा।

अजल्पन् अहसन्:– बातचीत करते और हंसते हुए खाने से वे ही कठिनाइयां हो सकती हैं जो जल्दी–जल्दी खाने से हो सकती हैं। हंसते और बोलते हुए श्वासनली भी खुल जाती है और फिर खाना अन्न नली में न जाकर श्वासनली में भी जा सकता है।

ध्यानपूर्वक भोजन करनाः– खाते समय ध्यान खाने पर होना चाहिए क्योंकि मन के अन्यत्र होने पर व्यक्ति यह नहीं जान सकता कि वह कितना और क्या खा रहा है। थाली में यदि कोई अखाद्य वस्तु गिर जाय तो भी उसे पता नहीं लगेगा।

अपने को ध्यान में रखकर खानाः– खाना खाते समय खाने के समस्त नियमों को याद रखते हुए और अपना समुचित ध्यान रखकर खाना चाहिए।

वाग्भट्ट ने इन नियमों में और नियम जोड़े हैं, जैसे बिना नहाये नहीं खाना चाहिए, नंगे होकर नहीं खाना चाहिए, केवल धोती या अधोवस्त्र पहनकर अथवा गंदे कपड़ों में नहीं खाना चाहिए, हवन किये बगैर और ईश्वर और पूर्वजों को भोग लगाये बगैर नहीं खाना चाहिए और माता–पिता, गुरु, अतिथि, गाय, कुत्ते तथा पालतू पशुओं के खिलाये बगैर नहीं खाना चाहिए। भोजन के लिए सही स्थान और सही समय पर, आसन, थाली आदि सहायक सामग्री सहित, हाथ–पैर मुंह धोकर कुल्ला करके मित्रों और शुभचिंतकों के साथ बैठकर खाना चाहिए (विशेष विवरण के लिए मौखिक स्वच्छता का अध्याय देखें)।

एक बार ठंडा पड़ा हुआ खाना पुनः गरमा कर न खायें, अत्यंत गरम न खायें और बहुत अच्छे बने पदार्थ को भी अधिक मात्रा में न खायें। असात्म्य आहार, जो अपनी प्रकृति के विरुद्ध हो, न लें। ऐसा आहार भी न लें जिसका अभ्यास न हो और सूपशास्त्र के अनुसार न बना हुआ खाना भी न खायें।

सवेरे तड़के न खायें, न ही रात में देर से खायें और खुले आसमान के नीचे या धूप में न खायें। अंधेरे में, पेड़ के नीचे और बिस्तर पर न खायें। खुले सार्वजनिक स्थान में न खायें। फूटी हुई थाली में या दूसरों की थाली में भी न खायें।

पूर्व की ओर मुंह करके, प्रसन्न चित्त हो खावें। परोसने वाले ऐसे हों जो स्वयं खाने के लिए उत्सुक न हों और खानेवाले के प्रति सद्भाव रखते हों और परोसा गया खाद्य जीवनीय, धारणीय और लाभदायक हो।

आहार ग्रहण करने की विधि में नियम और भी हैं।

१. बासी खाना न लें। लेकिन कुछ पदार्थ जैसे मिठाइयां और मांस के बने व्यंजन कुछ–कुछ बासी (पर्युषित) होन पर भी लिये जा सकते हैं। सामान्यतः सुबह का बना खाना शाम को बासी हो जाता है। लेकिन ये पदार्थ एक या दो दिन बाद भी लिये जा सकते हैं। लेकिन दो दिन बाद ये भी बासी पड़ जाते हैं और सेवन योग्य नहीं रहते।

२. परोसी गयी सारी सामग्री नहीं खा डालनी चाहिए। लेकिन यह नियम दही, शहद, घी, पानी, सत्तू, दलिया और खीर पर नहीं लागू होता। अर्थात इन चीजों को अधिक परोसना नहीं चाहिए और अनावश्यक लेकर नष्ट नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि व्यक्ति की स्वस्थावस्था को बनाये रखने के लिए न केवल आहार के गुण और परिमाण का महत्व है अपितु स्थान, समय, माहौल और खानेवाले की शारीरिक और मानसिक अवस्था तथा खाने की विधि का भी उतना ही महत्व है।

आहार और धर्म

सभी धर्मों में आहार की आदतों के नियमन को आध्यात्मिक प्रगति के लिए बहुत महत्व दिया गया है। भारत में आहार और मन के संबंध पर बड़ी सूक्ष्मदर्शिता है और मन की शुद्धि के लिए आहार ग्रहण करने के अनुशासन का पालन अनिवार्य माना गया है। हमारे धर्मशास्त्रों में आहार शुद्धि पर अत्यधिक जोर दिया गया है। 'सर्वेषां शौचानां अन्नशौचं विशिष्यते' अर्थात सभी प्रकार की सफाइयों से अन्न की सफाई श्रेष्ठ है यह बृहस्पति का कथन है।

भगवद्गीता और उपनिषदों में आहार के बारे में विस्तार से विधि-निषेधों का वर्णन है। प्रायः इन नियमों का आधार उनके सात्विक, राजसिक और तामसिक गुण हैं। ऐसे पदार्थ जो आहार या औषध के रूप में बहुमूल्य हैं, इन गुणों के आधार पर साधकों के लिए वर्जित हैं। ऐसा ही एक पदार्थ लहसुन है जो साधकों के लिए वर्जित है (देखें बाक्स सामग्री)। भगवद्गीता में आहार का वर्गीकरण सात्विक, राजसिक और तामसिक इन तीन वर्गों में किया गया है। इसके अतिरिक्त हिन्दू, इस्लाम और जैन धर्मों में किसी न किसी रूप में उपवास के नियम बनाये गये हैं। इसके पीछे यह धारणा जान पड़ती है कि स्वादेन्द्रिय के नियमन से इन्द्रियों और मन के नियंत्रण में सहायता मिलती है (इसका वर्णन आठवें अध्याय में लंघन के अंतर्गत देखें)।

लहसुन का पौधा

यह कथा प्रसिद्ध है कि जब देवताओं और राक्षसों ने समुद्र को मथा, तो उसमें से अमृत निकला। अमृत निकलते ही राक्षसगण उसे ले भागे। तब देवों ने विष्णु की शरण ली। विष्णु ने मोहिनी रूप लेकर सबको अमृत परोसने का जिम्मा लिया और सब मान गये। पहले देवताओं की पंगत हुई। इस पंगत में एक राक्षस भी यह सोचकर छिपे तौर पर घुस गया कि देवताओं को परोसने के बाद राक्षसों के लिए कुछ भी शायद न बचे। वह अमृत खा ही रहा था कि उस पर सूर्य और चंद्र की दृष्टि पड़ी और उन्होंने मोहिनी को इसका संकेत कर दिया। मोहिनी ने परोसनेवाली कलछुल राक्षस पर दे मारी। कलछुल ने चक्र का रूप ले लिया और राक्षस का सिर काट लिया। लेकिन राक्षस के गले में अमृत चला गया था अतः उसका सिर एक ग्रह बन गया।

जब राक्षस का सिर कट गया और धड़ जमीन पर गिरा तो अमृत की कुछ बूंदें उसमें से जमीन पर गिर पड़ीं और उसी से लहसुन का पौधा निकला इसीलिए कहा जाता है कि लहसुन में अमृत के कुछ गुण पाये जाते हैं यह शरीर के लिए अत्यंत लाभदायक है। पर चूंकि यह एक राक्षस से भी संबद्ध है अतः इसमें तामसिक गुण भी है जो इसे खाने पर मन को प्रभावित करते हैं। अतः साधकों के लिए यह वर्जित है। (४)

पथ्य और अपथ्य

अधिकतर परंपरागत चिकित्सा आहार पर कठोर नियंत्रण के साथ चलती है। बहुत से लोग इन दवाओं को इस भय से लेते ही नहीं कि उन्हें पथ्य के कठोर नियमों का पालन करना होगा। पथ्य से क्या अभिप्राय है? इसकी परिभाषा 'पथि हितं पथ्यम्' कहकर की गयी है अर्थात वह जो पथ अर्थात् स्रोतसों के लिए हितकर हो। यहां 'पथि' शब्द का अर्थ शरीर के स्रोतस् – पाचन तंत्र, परिवहन तंत्र से है, अर्थात् अन्नवह स्रोतस्, रसादि धातु स्रोतस् तथा वे समस्त स्रोतस् जिनका वर्णन चरकसंहिता के विमान स्थान के स्रोतो अध्याय में किया गया है। चरक ने बाद में तेरह स्रोतसों का वर्णन किया है अर्थात् असंख्य स्रोतसों में ये तेरह अतिमहत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार पथ्य वह आहार या औषध है जो अपने पथ मार्ग या स्रोतस् के लिए हितकर हो जिसमें होकर उसे गुजरना है।

पथ्य सबके लिए है

जिस प्रकार पथ्य रोगी के लिए है, उसी प्रकार वह प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति के लिए भी है। किन्तु सबके लिए किसी एक पथ्य का निर्देश नहीं दिया जा सकता । केवल समस्त स्वस्थ व्यक्तियों के लिए भी एक से पथ्य का निर्देश नहीं दिया जा सकता। क्योंकि एक व्यक्ति का पथ्य किसी दूसरे व्यक्ति के लिए कुपथ्य हो सकता है। यह विषय व्यक्ति की प्रकृति और शरीरस्थ दोष की अधिकता पर निर्भर करता है कि किसके लिए क्या पथ्य है।

महर्षि चरक ने चिकित्सा के पहले अध्याय में औषध के पर्यायों में पथ्य शब्द को गिनाया है अर्थात् वह औषध जो व्याधि की अवस्थाओं में स्रोतसों के लिए

लाभकर हो। यह औषध एवं आहार की एक अप्रतिहार्य शर्त होती है कि वह स्रोतसों के लिए लाभदायक हो, क्योंकि स्रोतसों की विकृति ही रोग का मूल कारण है। विकारग्रस्त स्रोतस ही दूषित दोषों के आश्रय बन जाते हैं। जो औषध और चर्या शरीर और मन पर कुप्रभाव नहीं डालते उन्हें स्वास्थ्यकर या पथ्य कहा जाता है, *'पथ्यं पथोनपेतं यद्यच्च उक्तं मनसः प्रियम्'* और जो प्रियकर नहीं है और शरीर तथा मन पर बुरा असर डालते हैं वे अपथ्य कहलाते हैं, 'यत् चाप्रियं अपथ्यं च नियतं तत्र लक्ष्येत् (चरक संहिता सूत्र २५/४५)।

किन्तु इसे एक व्यापक नियम के रूप में पूर्णतया स्वीकार नहीं किया जा सकता। औषधियों और चर्चा के गुणों में मात्रा, मौसम, तैयार करने की विधि, आवास और अन्य उपयोगी अथवा हानिकारक औषधों के मेल से परिवर्तन हो जाता है। अतः अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिए आवश्यक चिकित्सा प्रदान करने के पूर्व औषधियों के प्राकृतिक गुण, चर्या तथा मात्रा आदि अवस्थाओं का अच्छी तरह निर्धारण कर लेना आवश्यक है।

पथ्य या स्वास्थ्यकरता खाद्य के भौतिक लक्षणों और अस्वीकार्यता तक ही सीमित नहीं है। यह व्यक्ति की रुचि पर भी निर्भर है। इस प्रकार पथ्य वह है जो मन–मस्तिष्क पर कुप्रभाव न डाले। कहने का मतलब यह कि यदि व्यक्ति को बलपूर्वक औषधि या पथ्य दिया जायेगा तो वह भी उसके लिए उतना लाभदायक नहीं होगा। वह उसके लिए तभी अधिकतम लाभदायक होगा, जब उसके मन में यह भावना होगी कि इसके सेवन से वह अपने स्वास्थ्य को सामान्य अवस्था में बनाये रख सकता है या जिस बीमारी से वह कष्ट पा रहा है उससे मुक्त हो सकता है।

औषधि आदि की स्वास्थ्यकारिता अथवा अन्यथाकारिता मात्रा आदि अन्य अनेक बाह्य कारकों पर निर्भर करती है। विविध प्रतिबंधक कारकों का विचार किया जाय तो अत्यंत स्वादिष्ट वस्तु भी अस्वास्थ्यकर और प्रतिकूल वस्तु स्वास्थ्यकर हो सकती है जैसे घी को सामान्यतया स्वास्थ्यवर्द्धक माना जाता है, किन्तु अधिक मात्रा

में लेने से विरुद्ध औषध–द्रव्यों से प्रसंस्कृत करने से, वसंत ऋतु में लेने से स्थूलकाय व्यक्ति द्वारा लेने से अथवा अपवृद्ध कफ की स्थिति में लेने से हानिकारक सिद्ध होता है। मात्रा और काल में लिया हुआ विष भी औषधि का काम करता है (चरक संहिता सूत्र १/२६)। 'हितकरमाहारविहारौषधि' को पथ्य कहते हैं अर्थात् वह आहार–विहार और औषधि पथ्य है जो लाभ करे।

रोग में पथ्य

चरक का कहना है *'विनापि भेषजैः व्याधिः पथ्यात् एव निवर्तते, न तु पथ्यविहीनस्य भेषजानां शतैरपि'।* अर्थात् किसी व्यक्ति को किसी रोग से केवल पथ्यपालन द्वारा रोगमुक्त कराया जा सकता है लेकिन पथ्य पालन न करने पर सैकड़ों औषधियों के प्रयोग से भी रोगमुक्ति संभव नहीं। यह कहावत भी प्रसिद्ध है :

पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषध निषेवणैः।
पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणैः।।

अर्थात यदि व्यक्ति पथ्यपालन कर रहा है तो उसे औषधि की क्या आवश्यकता ? और यदि वह पथ्यपालन नहीं कर रहा तो औषधि सेवन से लाभ ही क्या है ? अभिप्राय यह कि पथ्यपालन करने वाले के लिए औषधि की आवश्यकता नहीं और पथ्यपालन न करने वाले के लिए औषधि से कोई लाभ नहीं। वैद्य जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है – "जो आहार या विहार सात्म्य और अनुकूल है, शरीर के ऊतकों की रक्षा करता है, उनके अतिरेक अथवा दूषित अवस्थाओं का नियंत्रण करता है और उनकी वृद्धि तथा विकास में सहायक भी होता है वह पथ्य कहलाता है। दूसरी ओर, जो आहार या विहार व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए हितकर नहीं है, शरीर के ऊतकों की साम्यावस्था का अनुरक्षण नहीं करता और न उनके दूषण का नियंत्रण करता है, बल्कि उन्हें बिगाड़ देता है, उसे अपथ्य कहेंगे।"

सामान्य पथ्य

कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो प्रायः सदा ही पथ्य हैं, जिन्हें किसी भी समय लेने से हानि नहीं होती, जैसे शालि (लाल) चावल, मूंग, बरसात का पानी, सेंधा नमक, जीवंती (लेप्टाडेनी रेटिक्युलेट) और पटोल (ट्राइकोज़ैथिस डाइओइका) शाक, हरिण का मांस, पक्षियों में बटेर का मांस, रोहू मछली, गाय का दूध और घी, तिल का तेल, शूकर वसा, अदरख, अंगूर, गेहूं और आँवला।

सामान्य अपथ्य

कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो सामान्यतया सदा अपथ्य हैं। वे हैं, जौ (होर्डियम वल्गेयर), कलाय (पाइसम सेटाइवम), वर्षा ऋतु में नदी का पानी, समुद्री नमक, गाय का मांस, काली बत्तख, चिलिचिमा मछली, मेढ़क, भेड़ का दूध और घी, कुसुंभ का तेल, भैंस, मगर और हाथी की चर्बी, मूली (रफेनस सेटाइवस), कटहल (आर्टोकार्पस इंटेग्रिफोलिया) और राब। ये सभी अपथ्य हैं और इनका सेवन नियमित रूप से नित्य कभी नहीं करना चाहिए।

विभिन्न रोगों में पथ्य और अपथ्य

अब हम कुछ पथ्य और कुछ अपथ्य आहार–विहार की चर्चा करेंगे। यद्यपि इस पुस्तक में केवल आहार और पोषण पर विचार किया जा रहा है परन्तु हम पूर्णता की दृष्टि से भिन्न–भिन्न रोगों में स्वस्थकर आहार-विहार यहां दे रहे हैं।

अर्श(बवासीर)

पथ्य आहार – लहसुन, मक्खन, घी, दूध, तोड़ (दही या फटे दूध का), काजू, गाजर, शक्कर, मूली, मटर, मेथी, पालक, हरी सब्जियां, कटहल, धनियां, किशमिश, तिल।

पथ्य विहार – रक्तमोक्षण (फस्द खोलना), तेल की मालिश, तीव्र वाहिनी नदी या ताल में नहाना, ताजा हवा में घूमना–फिरना और शरीर की सफाई।

अपथ्य आहार – मछली, दही, मैदा, उड़द, पके आम, अधिक पानी पीना गरिष्ठ पदार्थ, तैलाक्त पदार्थ।

अपथ्य विहार –मल–मूत्रादि समस्त वेगों को रोकना, दिन में सोना, रात में जागना, एक ही स्थान पर घंटों बैठे रहना, धूप में घूमना–फिरना।

ध्यान रहे कि खूनी बवासीर में रक्तपित्त के पथ्यापथ्य नियमों का भी पालन करना रोगी के लिए आवश्यक है।

तर्काधार: अर्श एक ऐसी व्याधि है जिसका सीधा संबंध पाचन शक्ति से है। रोग की गंभीरता रोगी के अग्निबल की वृद्धि के साथ सुधरती और घटने के साथ बढ़ती है। इसलिए अर्श में अग्निबल को प्रबल बनाये रखना आवश्यक है। (चरकसंहिता चि. १४/२४४–२४६) इसलिए सारा आहार–विहार अग्निदीपन होना चाहिए। वह हल्का भी होना चाहिए। जिससे अग्नि का संरक्षण करते हुए धीरे–धीरे उसे बढ़ाया जा सके।

आमवात

पथ्याहार – पुराने शालि (सावाँ) चावल, मूंग, चना, अरहर, गेहूं, मक्का, परवल, बैंगन, मेथी, करेला, नरम मूली की पत्तियां, तोड़ (फटे दूध या दही का पानी), लहसुन, जंबीर, गरम पानी, आसव, अरिष्ट, गोमूत्र और समस्त कटु पदार्थ।

पथ्य विहार – विरेचन, स्वेदन, लंघन, स्नेह पान।

अपथ्याहार – दही, मांस, गुड़, उड़द, भैंस का दूध, विरुद्ध अन्न, गरिष्ठ और कफवर्द्धक आहार, क्षारीय पदार्थ।

अपथ्य विहार – पूर्वी हवाओं का सेवन, अनियमित खाने–पीने की आदतें, वेगों का दमन, रात्रि–जागरण।

तर्काधार – आमवात चूंकि आम दोष और वात दोष से उत्पन्न होता है अतः आमवात के रोगी को ऐसे आहार–विहार का त्याग करने को कहा जाता है जो आम अथवा वात की वृद्धि करे। इस स्थिति में तो वही आहार विहार स्वास्थ्यकर है जो आम पाचन और वातहर हो।

कर्ण रोग – कान की व्याधियां

पथ्याहार – पुराना शालि चावल, गेहूं, मक्का, मूंग, अरहर, हरिण और खरगोश का मांस परवल, ककड़ी और घी।

पथ्य विहार – स्वेदन, विरेचन, वमन, नस्य, रक्त मोक्षण, धूम्रपान, ब्रह्मचर्य, मौन उबाल कर ठंडा किया हुआ पानी।

अपथ्याहार – कफवर्धक गरिष्ठ आहार और अभिष्यंदि पदार्थ।

अपथ्य विहार – दांत मांजना, सिर से नहाना, व्यायाम।

तर्काधार – कान के सभी रोगों में हल्का खाना लेना चाहिए और चूंकि व्याधि कफस्थान में है अतः कफ स्तंभक आहार विहार उपयोगी हैं। सिर से नहाने से कान में पानी जाने और रोगावस्था के गंभीरतर होने की आशंका है नासा रोग और नेत्र रोगों में भी पथ्यापथ्य विचार कर्णरोगों के ही समान है।

भगंदर

पथ्याहार – पुराने शालि चावल, चना, उड़द, गेहूं, जंगली पशुओं के मांस, परवल, मेथी, करेला, सूरन, अल्पमात्रा में आलू, केला, कटहल के बीज, मूली, मक्खन, घी, मिठाइयां, किशमिश, शहद।

पथ्य विहार – खुली हवा में भ्रमण, झील में नहाना, और पेट साफ रखना।

अपथ्यविहार – व्यायाम, संभोग, मल्लयुद्ध, हाथी या घोड़े की सवारी।

अम्लपित्त (खट्टीडकार)

पथ्याहार – पुराने चावल, गेहूं, मक्का, मूंग, करेला, परवल, अंगूर, केले के फूल का रसा, आँवला, अनार और नींबू की चटनी, उबाल कर ठंडा किया हुआ पानी, अंजीर, गाय का दूध, घी, शहद।

पथ्यविहार – वमन और विरेचन

अपथ्याहार – अति खट्टा, कड़ुआ, भारी और तैलाक्त पदार्थ, दही, तिल, अरहर की दाल, उड़द, मटर, बकरी का दूध, गाजर, ताजा गुड़, नमक।

अपथ्य विहार – वमन, नींद आदि वेगों को रोकना, धूप में बैठना घूमना–फिरना।

तर्काधार– अम्लपित्त दूषित वात और पित्त के कारण या पित्त की अम्लता के कारण होता है। अतः रोग का नियंत्रण करने के लिए समस्त उष्ण, अम्ल, तीक्ष्ण और गुरु आहार का त्याग करना चाहिए। साथ ही अन्य ऐसी सारी गतिविधियां त्याग देनी चाहिए जिनसे पाचक पित्त (पाचक रसों) की.उत्पत्ति हो।

कास, श्वास खांसी और घर्र–घर्र

पथ्य आहार – पुराने शलि चावल, पुराना गेहूं, मक्का, चना, मूंग, अरहर, उड़द, लहसुन, गरम पानी, शराब, बैंगन, दालचीनी, अंगूर, किशमिश, शहद, दूध, गोमूत्र, जंगली पशुओं के मांस का शोरबा, वातनाशक एवं कफनाशक पदार्थ, ब्राह्मी, आसव और अरिष्ट।

अपथ्य आहार – ठंडा या दूषित पानी, मछली, कंद, सरसों, गरिष्ठ आहार, मधुर और अम्ल खाद्य, तोड़, दही, मैदा।

अपथ्य विहार – पूर्वी हवाएं, मल–मूत्र–वमन आदि वेगों को रोकना, दिन में सोना, बस्ति (एनीमा), नस्य।

तर्काधार – सामान्य रूप से पथ्य आहार–विहार वह है जो कफ और वात को दूषित नहीं करता बल्कि कफशामक और वातशामक है। जबकि अपथ्य सूची में कफकर आहार–विहार है।

रक्तपित्त

पथ्याहार – केला, मूंग, चना, अरहर, सूरन, पेठा, करेला, प्याज़, धनिया, नारियल और दूध से निर्मित दलिया, बकरी का दूध।

अपथ्याहार – तिल, बैंगन, सरसों, उड़द, विरुद्धाहार, नया गुड़, सरसों और तिल का तेल, पापड़, कुसुंभ तेल, कुलथी, सूखे, खट्टे, कड़वे और क्षारीय पदार्थ।

छर्दि/वमन

पथ्याहार – शालि चावल, धान का लावा, पुराने गेहूं या मक्के की रोटी, उड़द, चना, ताजा धनियां, पालक, नींबू, अनार, ताजा ठंडा पानी, शक्कर, शराब, आसव और अरिष्ट, अंगूर, किशमिश, लौंग, पके आम, खसखस का शर्बत।

पथ्यविहार – वमन, विरेचन।

अपथ्याहार – अरुचिकर आहार, गरम पानी, विरुद्धाहार, लहसुन, स्नेहपान।

अपथ्यविहार – नस्य, स्वेदन, रक्तमोक्षण, आसमान की ओर ताकना, भय। सूर्य प्रकाश और व्यायाम।

स्त्री रोग/प्रदर/योनिरोग

रक्तप्रदर के पथ्य और अपथ्य रक्तपित्त के समान हैं।

पथ्याहार – केला, परवल, शहद, अंगूर, अधिक घी, चना, शीतल पदार्थ।

पथ्यविहार – कस्तूरी, चंदन, कपूर और रूस की मालिश, नहाना कम और केवल गरम पानी से।

अपथ्याहार – खट्टे पदार्थ, मटर, मिर्च, गरिष्ठ पदार्थ, तीक्ष्ण द्रव्य, नमक और मछली की अधिकता, शराब।

अपथ्य विहार – आग तापना, भारी बोझ उठाना, ऊपर चढ़ना और उतरना ज़ोर-ज़ोर से बोलना, मल-मूत्र के वेगों को रोकना, रात में जागना

गर्भिणी के पथ्यापथ्य

दीपो भक्षयते ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते।
यदन्नं भक्ष्यते नित्यं जायते तादृशी प्रजा।।

वृद्ध चाणक्य

जलता हुआ दीपक अंधकार को खाकर काजल को जन्म देता है। उसी प्रकार जैसा आहार नित्य लिया जायेगा संतान भी वैसी ही होगी।

गर्भिणी स्त्री की यह विलक्षणता है कि वह एक जीव को अपने शरीर में धारण करती है और उस अजन्मे शिशु को पोषण भी देती है। इसलिए उसके आहार का चयन सावधानी और सरोकार के साथ किया जाना चाहिए। यदि वह अस्वस्थ हो तो वैद्य के परामर्श से उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

पथ्याहार – बैंगन, कच्चे केले, परवल, गेहूं, शालि चावल, दूध, मक्खन।

पथ्य विहार – तैलाभ्यंग, स्नान, कोमल शैय्या, चंदनलेप, कपूर, मानसिक प्रसन्नता।

अपथ्याहार – बहुत गरम खाद्य, बहुत तेज और गरिष्ठ आहार, सौवर्चल और यवक्षार के क्षार का प्रयोग।

अपथ्य विहार – स्वेदन, वमन, विरेचन, लंघन, रात्रि जागरण, वेगों (मल-मूत्र-उल्टी जैसे) का दमन, यौनाचार, क्रोध, उपवास, दुःख, अवसाद।

गर्भावस्था के दर्म्यान और बच्चे के पैदा होने के तत्काल बाद मां की देख-रेख एक विस्तृत चर्चा का विषय है। इस विषय पर विस्तार से चर्चा एक पृथक् महानिबंध "माता एवं नवजात शिशु की देखभाल" में की जा रही है। (५)

गर्भावस्था में आहार

यह वह क्षेत्र है जहां स्थानीय समुदायों में 'यह करो यह न करो' की भरमार है जो आधुनिक अनुसंधाता के पल्ले नहीं पड़ती। सामान्य तौर पर जो सभी गर्भिणियों को सलाह दी जाती है कि वे खाने में संयम रखें यदि ज्यादा खायेंगी तो गर्भ बड़ा होगा और जच्चगी में दिक्क़त होगी, यह बंगलादेश के उदाहरण (६) और लोस्वापसंस के सर्वेक्षण में सत्य पाया गया है। (७) ऐसी सामान्य सलाह के अतिरिक्त खाद्य वस्तुओं की गरम या ठंडी तासीर की परिकल्पना के आधार पर उसके लिए विस्तृत विधान है। दक्षिण भारत के ऐसे खाद्यों की सूची बना ली गयी है। (८) और बंगलादेश के नोआखाली (९) में किये गये सर्वेक्षण से भी ऐसी बातें प्रकाश में आयी हैं।

उदाहरणार्थ दक्षिण भारत में कुछ खाद्य जैसे शरीफा गर्भवतियों के लिए उष्ण होने के नाते वर्ज्य हैं कि इनके सेवन से उन्हें गर्भपात हो सकता है। कुछ अन्य खाद्य लाभदायक माने जाते हैं। बंगलादेश में उर्वरता बढ़ाने के लिए उष्ण खाद्य एवं उसे घटाने के लिए ठंडे खाद्य देते हैं। गर्भावस्था के दर्म्यान इमली और कच्चे आम खाने की प्रवृत्ति भी व्यापक है।

आंध्र प्रदेश में १४४ दाइयों और ६४० ग्राम महिलाओं से गर्भावस्था के दर्म्यान के खाद्य संबंधी विधिनिषेधों की विस्तृत जानकारी प्राप्त की गयी (१०)। कद्दू केला, बैंगन, अमरूद और पपीता खाना मना है। सामान्य तौर पर समस्त उष्ण माने गए पदार्थों से गर्भिणी को बचाते हैं। आंध्र प्रदेश में ही किये गये एक अध्ययन से अंडा, गुड़ और पपीते मना होने का पता चला है (११)। उसी से यह भी पता चला है कि खट्टे फल, मट्ठा और दही भी सर्दी होने के भय से वर्जित हैं।

आयुर्वेद में सामान्य तौर पर गर्भिणी के लिए मधुर रस के खाद्यों और तरल अधिक सेवन करने का विधान है। सूखे, गरम, मसालेदार और गरिष्ठ पदार्थ नहीं दिये जाते। स्थानीय समुदाय जिन वस्तुओं से परहेज़ करता है उनके परहेज से

आयुर्वेद भी सहमत है। जैसे कच्चा पपीता जिसे अनेक समुदाय वर्जनीय मानते हैं उष्ण और तीक्ष्ण होने से गर्भपात कर सकता है। कुछ चीजों के प्रति गर्भिणी की ललक और उसकी इच्छा-अनिच्छाओं होने वाले परिवर्तनों को में आयुर्वेद अच्छी तरह समझता है। जैसे यदि गर्भिणी को कोयला खाने की तीव्र इच्छा हो तो आयुर्वेद उसे त्रिफला की राख खाने की छूट देता है जिससे उसे लाभ ही होगा और यदि उसे मि ट्टी/धूल/ई ट खाने की इच्छा हो तो उसे गैरिक चूर्ण दिया जा सकता है। उसकी तीव्र इच्छा-अनिच्छाओं के संबंध में और किन्हीं खाद्यों के प्रति उसकी उठती-गिरती भावनाओं के संबंध में आयुर्वेद का मत यह है कि गर्भिणी के दो हृदय होते हैं एक अपना और एक गर्भस्थ शिशु का और उसे दौहृदिनी कहते हैं। अतः परस्परविरुद्ध अथवा उठती-गिरती भावनाएं उसकी अपनी भी हैं और गर्भस्थ शिशु की भी है।

कतिपय विशिष्ट पदार्थ

पानी

मानव जीवन के लिए अनिवार्य वस्तुओं में से एक पानी है। ऐसे अनेक मत हैं जो पानी को जीवन के विकास का आधार मानते हैं और कुल मिलाकर यह जीवन के अस्तित्व के लिए एक अनिवार्य वस्तु है। स्वास्थ्य के सन्दर्भ में पानी की भूमिका अति महत्वपूर्ण है। हमारे शरीर में उपापचय बनाये रखने के लिए पानी की एक निश्चित मात्रा का रहना नितांत आवश्यक है। पानी का उपयोग चिकित्सा में भी किया जा सकता है, अकेले (जलचिकित्सा) भी और अन्य दवाओं के साथ भी (अनुपान)।

अधिकतर प्राचीन समाजों में जिनमें पाश्चात्य समाज भी सम्मिलित है, पानी पवित्रता और स्वच्छता का प्रतीक माना जाता है। पानीयां *प्राणिनां प्राणाः विश्वमेव तन्मयं नहि तद्धि बिना वृत्तिः स्वस्थस्य।* अर्थात् पानी समस्त जीवधारियों की जीवन रेखा है और यह दुनिया में सर्वव्यापी है और इसके बिना वृद्धि या विकास नहीं हो सकता। (अष्टां गसंग्रह सूत्र ६/३०-३१)

पानी के गुण

पानी को जीवनदायी, हृदय की प्रसन्नता और बुद्धि के लिए लाभकर बताया गया है इसका एक प्रच्छन्न स्वाद है और यह ठंडा, हल्का और अमृतोपम है। (अष्टांगहृदय सूत्र ५१)

पानी का वर्गीकरण

पानी के दो मुख्य प्रकार हैं गंगांबु और समुद्रजल। गंगांबु या गंगा जल वह है जो आकाश से पृथ्वी पर गिरता है और सूर्य, चंद्र और हवा के संपर्कमें आता है। यह जल लाभकारी होगा या अलाभकारी यह इस बात का निर्भर करेगा कि उसे सूर्य आदि का संपर्क उचित मिला है अथवा अनुचित और प्रतिकूल। गंगाजल के अतिरिक्त अन्य सभी जल समुद्र जल हैं। कहा गया है कि समुद्र जल और गंगा जल में फर्क यह है कि समुद्र जल में बना खाना जल्दी बासी हो जाता है जबकि गंगा जल में बना खाना देर तक ताजा रहता है।

वर्षा का पानी भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न गुणों वाला होता है (चरक संहिता सूत्र २७/२०४-२०८)।

- वर्षा ऋतु में बारिश का पानी गरिष्ठ, मधुर और अभिष्यंदि होता है और नूतन जल कहलाता है।
- शरद की बरसात का पानी हल्का होता है और अभिष्यंदि नहीं होता।
- हेमंत ऋतु की वर्षा का पानी स्निग्ध, वृष्य, बलवर्धक और गुरु होता है।
- शिशिर ऋतु की वर्षा का पानी हेमंत ऋतु की अपेक्षा हल्का और कफवातनाशक होता है।
- वसंत ऋतु की वर्षा का जल स्वाद में कषाय एवं मधुर तथा अत्यंत रूक्ष होता है।
- गीष्म ऋतु में वर्षा जल अभिष्यंदि नहीं होता।

बेमौसम की बरसात या ऋतु की हेर-फेर से होने वाली बरसात का पानी दोषों का अत्यधिक दूषक और महामारियां उत्पन्न करने वाला होता है।

जल के स्रोत

वाग्भट्ट ने स्रोत के अनुसार आठ प्रकार के जल का वर्णन किया है (अष्टांग संग्रह सूत्र ६/१३-१६)।

कूप जल – कुएं का मीठा पानी अग्निदीपन और खारा पानी पित्तवर्धक होता है।

सरोवर जल – झील का पानी मीठा, हल्का और त्रिदोषशामक होता है साथ ही प्यास का शामक और बलवर्धक होता है।

तडागजल– तालाब का पानी भारी और वातवर्धक होता है।

कौंडजल – यह पित्तवर्धक और अग्निदीपन होता है ।

प्रस्रवण जल – झरने का पानी हल्का, हृदय के लिए बल्य और दोषशामक होता है

औद्भिद जल – सोते का पानी मधुर और पित्तशामक होता है।

वापी जल – प्राकृतिक तालाब का पानी मधुर, हल्का और वातनाशक होता है।

नदी जल – वातकर, सूखा और तिक्त होता है। पश्चिम वाहिनी नदी का पानी हल्का और स्वास्थ्यकर तथा पूर्वगामिनी नदी का जल उसकी अपेक्षा कम गुणकारक है।

अशुद्ध जल और उसका शुद्धीकरण

आधुनिकीकरण और शहरीकरण के चलते आज पानी दुर्लभ हो चला है और उसकी शुद्धता में भी गिरावट आयी है। इस पानी को शुद्ध करना अति महत्वपूर्ण है किन्तु शद्धीकरण की विधि ऐसी होनी चाहिए जिसे कि हर आदमी अपना सके। वाग्भट्ट और सुश्रुत ने पांच तरीके बताए हैं जो निम्नवत हैं (अष्टांगसंग्रह सूत्र ६/२६–२८ और सुश्रुत सूत्र ४५/१२)।

- मोटे कपड़े से पानी को कई बार छानना जिससे सूक्ष्म धूलकणों और जीवों को अलग किया जा सके।
- पानी में कुछ औषध या वस्तुओं को जैसे कुश घास, बिसग्रंथि (कमल की जड़), मोती, कपड़े की बत्तियां, गोमेदमणि आदि डुबो कर रखना ।
- पानी को खौलाना

- पानी को धूप में रखना
- पानी में गरम बालू, गरम ईंट या लाल गरम लोहे का गोला डुबो रखना।

पानी पीना

पानी पीने के पाँच प्रकार हैं :

(क) केवल पानी पीना

(ख) औषध के साथ पानी पीना

(ग) उबाल कर पीना

(घ) औषध के साथ ठंडा पानी पीना

(ड़) गरम पानी पीना

इन पांचों प्रकारों से पानी पीते समय पानी की मात्रा का ध्यान रखना चाहिए कहा भी गया है, *'समीक्ष्य मात्रया उक्तंअमृतं विषमन्यथा'* अर्थात् उचित परिमाण में लेने पर अमृत के समान तथा उचित परिमाण में न लेने पर विष से तुलनीय होता है। (अष्टांगसंग्रह सूत्र ६/३२)।

- एक स्रोत से प्राप्त जल पीने के बाद उसके पचने से पहले दूसरे स्रोत से प्राप्त पानी नहीं पीना चाहिए। (अष्टांगसंग्रह सूत्र ६/२८)
- यदि बिना उबाला पानी पी लिया है तो उसके पाचन से पहले उबला हुआ पानी न पियें और यदि उबला पानी पीने की आदत है तो बगैर उबला हुआ पानी कदापि न पियें। गरम पानी के पचने से पहले ठंडा पानी न पियें। (अ.सं.सू. ६/२९)
- अधिक मात्रा में पानी नहीं पीना चाहिए क्योंकि इससे कफ और पित्त दोषों में बिगाड़ उत्पन्न हो सकता है और आम की उत्पत्ति हो सकती है तथा शरीर में भारीपन और पाचन शक्ति की हानि हो सकती है। (अ.सं.सू. ६/३३–३४)
- जब जठराग्नि सामान्य स्थिति में न हो और वात आदि दोष विकृत हों तो पानी बगैर उबाले न पियें (अ.सं.सू. ६/३८, ३९, ४०)।

ताम्र पात्र

युगों-युगों से तांबे के बर्तनों का प्रयोग पानी भरकर रखने के लिए किया जा रहा है। पीने का पानी एकत्र करने के लिए तांबे के बर्तनों का प्रयोग करने के लिए प्राचीन साहित्य में विशेष रूप से कहा गया है। इधर लगभग सौ वर्षों में जीवाणुओं और रोगाणुओं की वृद्धि पर धातुओं और उनके यौगिकों के प्रभाव का अध्ययन किया गया है।

१९७० के दशक में पूना के डॉ. गोडबोले ने तांबे के बर्तनों में पानी इकट्ठा करने के प्रभावों का अध्ययन किया (१२)। उनके अध्ययनों में तांबे, पीतल, अल्युमीनियम, स्टेनलेस स्टील, चांदी और शीशे के गिलासों में पानी भरकर रात भर के लिए रख छोड़ा गया। एकत्र करने से पूर्व और एकत्र करने के बाद के पानी की कोलिफार्म गणना ली गयी। उन्होंने पाया कि "तांबे के पात्रों में दूषित पानी भर रखने के चार से छह घंटे के अन्दर पानी का मलसंदूषण दूर हो गया..." चांदी में भी ऐसा ही प्रभाव पाया गया। पीतल के बर्तनों में भी कालीफार्म जीवाणु की कमी हुई परंतु तांबे और चांदी की तुलना में बहुत कम। अन्य अलुमीनियम, स्टेनलेस स्टील और शीशे के गिलासों के पानी में जीवाणुमयता की उल्लेखनीय कमी नहीं हुई।

अपने निष्कर्ष में डॉ. गोडबोले का कहना है कि पानी का स्रोत चाहे जो हो यदि उसे चार से छह घंटे तक तांबे के पात्र में रखा जाय तो वह मनुष्य के पीने लायक हो जायेगा। गांवों में सबेरे-सबेरे किसी पानी के स्रोत से पानी लाकर घरों में रख लिया जात है। फिर १२ बजे भोजन के समय तक पानी पीने के लिए निरापद हो जाता है यदि उसे तांबे के बर्तन में भरकर रखा गया हो।

- नेत्राभिष्यंद, प्लीहा रोग, पांडु, उदररोग, अर्श आदि में कैसा भी पानी, उबला हुआ या सादा नहीं पीना चाहिए, किन्तु पानी सभी के लिए अनिवार्य होता है अतः ये रोगी कम से कम पानी पीकर गुजारा करें।
- स्वस्थ व्यक्ति को भी शरद और ग्रीष्म ऋतुओं को छोड़ सीमित मात्रा में सादा पानी पीना चाहिए क्योंकि अन्य ऋतुओं में पेट में पानी की अधिकता पाचन के लिए बाधक है (अ.सं.सू. ६/३८-४०)।
- दुबले लोगों को भोजन के बाद और मोटे लोगों को भोजन के पहले पानी पीना चाहिए सामान्य लोगों के लिए भोजन के बीच-बीच में पानी पीना अच्छा है क्योंकि इससे रस आदि धातुओं की साम्यवास्था बनी रहती है। (अ.सं.सू. ६/४१-४२)।

इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पानी एक अनोखी चीज़ है और चिकित्सा के लिए अत्यंत आवश्यक वस्तु है। आयुर्वेदिक आचार्यों ने इसके उपयोग का विस्तृत वर्णन किया है और हमें सावधान भी किया है कि यद्यपि यह जीवन के लिए अनिवार्य है किन्तु इसके अतिसेवन से विविध रोग संभव हैं।

शहद

शहद या मधु भारतवर्ष में अनादिकाल से आहार और औषध दोनों रूपों में प्रचलित है। बहुतों का यह दावा है कि इसे दूध के साथ लेने से शरीर का भार बढ़ता है और गुनगुने पानी के साथ लेने से शरीर के भार में कमी होती है। इसमें रंग उड़ाने का गुण भी होता है। जलने पर प्राथमिक उपचार के रूप में लगाने में भी इसका प्रयोग होता है। कुछ कहते हैं कि यह मधुमेह में भी लाभकर है और इसके सेवन से रक्तशर्करा का स्तर नहीं बढ़ता जबकि कुछ अन्य लोग इसके ठीक विपरीत कहते हैं कि मधुमेह के रोगी इसका सेवन करेंगे तो उनकी रक्त शर्करा अवश्य बढ़ जायेगी। ये कुछ विचार हैं शहद के विषय में। लेकिन क्या ये सही और व्यावहारिक हैं? हम शहद के उपयोग

करने और न करने के विषय में बहुत सुनते हैं पर एक बात तय है कि नित्य नियम से एक चम्मच शहद का सेवन करने वाला सदा स्वस्थ रहता है।

शहद क्या है ?

यद्यपि शहद दूध की तरह एक जैव उत्पाद है परंतु इसका मूल स्रोत वनस्पति जगत ही है। फूलों में एक मधुर स्राव होता है जिससे मधुमक्खी आकृष्ट होती है। मधुमक्खियां इसका चूषण करती हैं और फिर उनके शरीर में इसमें कुछ परिवर्तन होते हैं जिससे बाद में ये अपने छत्तों में उसे उडेल देती हैं। मधुमक्खियों की प्रजाति के अनुसार शहद आठ प्रकार के हैं। विविध मक्खियों द्वारा निर्मित शहद के गुणों में भेद होता है। शहद के गुणों में उन फूलों के कारण भी विविधता होती है जिनसे मक्खियां मधुसंचय करती हैं।

शहद या मधु शीत, हल्का, स्वादिष्ट, क्रिया में स्तंभक, संक्षारक, नेत्र के लिए हितकर, क्षुधावर्द्धक, आवाज अच्छी करने वाला यौवन का संरक्षक तथा घावों का शोधक है। यह सूक्ष्म है और शरीर के स्रोतसों का शोधक है। यह प्रसन्नतादायक, बुद्धिवर्धक, रूपवर्धक, स्वादवर्धक, चर्मरोग, अर्श, खांसी, रक्तस्राव, कफजन्य, मूत्रदोष (मधुमेह सहित) थकान, कृमि, मोटापा, प्यास, उल्टी, श्वासकष्ट, हिचकी,

अतिसार, कब्ज, जलन, चोट और क्षय में उपयोगी है। यह मधुर और किंचित कषाय रसवाला द्रव्य है। यह योगवाही और वात का किंचित् दूषक है।

शहद का महत्व

'नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु' अर्थात् शहद अनेक वस्तुओं से निर्मित और विविध स्वादवाला होने के कारण उत्तम योगवाही है। योगवाही से तात्पर्य किसी ऐसे पदार्थ से है जो जिस किसी भी विशिष्ट गुणयुक्त पदार्थ से मिलता है उसके गुणों को बढ़ा देता है।

चरक और सुश्रुत के अनुसार योगवाहि वह है पदार्थ है जो जिस वस्तु से भी मिले उसके समस्त गुणों को आत्मसात् कर उस वस्तु के अकेले प्रभाव की अपेक्षा (योगवाहि) संयुक्त प्रभाव को अनेक गुना बढ़ा दे 'योगात् योगिनो गुणं वहतीति योगवाहि।' साथ ही योगवाही संयुक्त पदार्थ दोनों की क्रिया करने में समर्थ होता है *'संयोगात्उभयार्थकृत्'।* वी.एस. आप्टे की संस्कृत डिक्शनरी में इसका अर्थ 'औषधियों को मिलाने का माध्यम' है और यह ठीक है तथा इसीलिए शहद का औषधि प्रदान करने में व्यापक प्रयोग होता आ रहा है।

शहद का उपयोग कैसे करें ?

- शहद को गरम लेना अथवा आग या धूप में तपाना उसको घातक बना देता है क्योंकि संचय के समय शहद मधुमक्खियों के अपने अथवा विषैले पौधों के विष से दूषित हो चुका होता है (च.सं.सू. २७/२४६)।
- शहद को सदा कम परिमाण में लेना चाहिए क्योंकि यह गुरु, रूक्ष, कषाय और शीतवीर्य होता है।
- शहद के अनुचित प्रयोग से उत्पन्न आम अत्यंत कष्ट कर होता है। आम की स्थिति में ऊष्मा लाभदायक होती है लेकिन शहद के सेवन से उत्पन्न आम में ऊष्मा लाभदायक नहीं होती। शीत मधु के लिए अनुकूल होता है लेकिन आम

के लिए नहीं। इस प्रकार चिकित्सीय विरोधाभासों के रहते मधु से उत्पन्न आम से तत्काल मृत्यु हो सकती है।

चूंकि शहद की उत्पत्ति विविध स्वाद और शक्तिमत्ताओं (पोटेन्सी) वाले फूलों से होती है अतः वह अनेक गुप्त चिकित्सीय शक्तियों से रचा-बसा होता है, और यह वामक, अथवा वाजीकर द्रव्यों अथवा आस्थापन बस्ति में प्रयुक्त औषधों तथा अन्य औषधों का, जो भी इसमें मिलाये जाते हैं वाहक हो जाता है। इसकी गुप्त चिकित्सीय शक्तियां तब उजागर होती हैं जब इसे किसी अनुरूप गुणों वाली औषधियों में मिलाया जाता है। यह अपने प्रभाव से भी कार्य करता है जिसकी बड़ी ही महत्वपूर्ण भूमिका है। दूध और शराब जिनके निर्माण में भी अनेक वनस्पतियों का योग रहता है, अपने में मिलाये गये द्रव्य के गुणों के वाहक नहीं होते।

योगवाहिता के बावजूद वातज रोगों में स्नेहन के लिए इसका प्रयोग नहीं किया जाता क्योंकि इसमें रूक्ष गुण है। शहद में उसके दो मुख्य गुण स्नेहाभाव और कषाय रस होने का कारण यह है कि मधुमक्खियां ऐसे ही फूलों पर मंडराती हैं जिनमें ये गुण नहीं होते। देखा गया है कि इसके सेवन से जोड़ों और वाहिकाओं के अवरोध खुल जाते हैं। शहद ऊर्जा भी देता है और जलन में आराम पहुंचाता है। समस्त कफ प्रधान रोगों में आम पाचन के बाद ही शहद दिया जाता है। इस प्रकार देने पर सभी प्रकार के कफ दोषों पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता है।

मधु का उपयोग करने और न करने के संबंध में अनेक खोज और सिद्धांत हैं। इसका उपयोग न करने की एक स्थिति मधुमेह है क्योंकि यह मीठा है और इसमें फ्रक्टोज और ग्लुकोज़ है जो कि रक्त में शर्करा के स्तर को बढ़ा देंगे। किन्तु आयुर्वेदीय विचारधारा के अनुसार मधुमेह कफज प्रमेह है और प्रमेह एक संतर्पणोत्थ व्याधि है अतः मधु कफहर और लेखनीय (खुरचने वाली) औषधि होने के नाते लाभदायक है।

मधु के कुछ सामान्य उपयोगी प्रयोगावसर

- दही के अभिष्यंदि गुण को दूर करने के लिए उसमें मिलाते हैं।
- कफज एवं पित्तज व्याधियों में अनुपान के रूप में मधु का व्यापक प्रयोग होता है।
- मधु समस्त लेह्य एवं अवलेहों का एक अनिवार्य घटक है।
- कषाय बस्ति में इसका उपयोग एक घटक के रूप में किया जाता है।

नवजात शिशु का प्रथम आहार शहद है जो उसे स्वर्णप्राशन के रूप में चटाया जाता है। इसके लिए शहद की चंद बूंदों में सोना घिसकर बच्चे को चटा देते हैं। पहले एक दो दिनों तक उसे ग़ैर–बराबर घी और शहद का मिश्रण भी दिया जाता है।

घृत/घी

घी वर्तमान समय में एक विवादास्पद वस्तु है। ऐलोपैथी के अनुसार घी एक अत्यंत वसामय पदार्थ है जिसका पाचन कठिन है और जो कोलेस्टेराल की वृद्धि करता है और अतः ४० वर्ष से ऊपर की उम्र के लोगों के लिए जिनमें उच्चतर रक्त कोलेस्टेराल की प्रवृत्ति होती है, मना है। परन्तु आचार्यों ने ऐसा कोई निषेध नहीं किया है। इसके विपरीत, वातपित्तहर होने के कारण यौवन के उत्तरार्ध में और वृद्धावस्था में अधिक उपयोगी बताया है। घी अग्नि या पाचन शक्ति को बढ़ाता भी है।

घी के गुण

दूध के स्रोत के अनुसार घी अनेक प्रकार का हो सकता है। जैसे गोघृत, अजाघृत (बकरी का घी), आविघृत (भेड़ का घी), महिषघृत (भैंस का घी) आदि। परन्तु इन सबमें गोघृत उत्तम और अविघृत निकृष्ट है। चरक ने (च.सं.सू. २५/३८ और ३९) कहा है कि *'गव्यं सर्पिः सर्पिषाम्'* और *'आविकं सर्पिः सर्पिषाम्'* को क्रमश अत्यंत स्वास्थ्यकर और अत्यंत अस्वास्थ्यकर बताया है। अतः गोघृत का प्रयोग सर्वाधिक

होता है और केवल घृत शब्द का प्रयोग करने से गोघृत का तात्पर्य समझना चाहिए, जैसे तैल मात्र कहने से तिल के तेल का आशय लिया जाता है।

गोघृत या घृत कल्याणकारी, शीतवीर्य और मधुर रस है और इसका विपाक भी मधुर है। यह वात और पित्त दोषों को दूर करता है। यह स्मृति, बुद्धि, अग्नि, शुक्र और ओजस और मेद को बढ़ाता है।

रोगों में उपयोग

यह सर्पदंश जैसी विषाक्तताओं में और उन्माद, शोष और ज्वर में भी लाभदायक है। सुश्रुत ने कुछ और भी गुण गिनाए हैं (सुश्रुत संहिता सूत्र ४५/९६) जैसे यह सौम्य, गुरु, मृदु, अम्ल, अभिष्यन्दि और रक्षोघ्न द्रव्य है। यह बुद्धि, स्मृति जठराग्नि, बल, आयु, शुक्र और दृष्टि शक्ति को बढ़ाता है और यौवन तथा वृद्धावस्था में उपयोगी है। यह उन लोगों के लिए भी उपादेय है जो संतति, कांति और सुस्वर की आकांक्षा रखते हैं। यह व्रण, चोट, क्षय, विसर्प तथा छेदन-भेदन आदि शस्त्रकर्म, और जलने पर तथा अग्निकर्म के बाद लाभकर है। यह वातविकारों, पित्तविकारों और शोष रोग को अच्छा कर देता है। यह शीतवीर्य है और व्यक्ति को युवा बनाये रखता है।

पुराने घी के गुण

पुराना घी (एक वर्ष से लेकर सौ वर्ष तक का) मदरोग (नशा), मिर्गी, कान के रोग, नेत्ररोग और योनिरोगों में लगाने और खाने से लाभ करता है। यह व्रणरोपण और व्रणशोधन है। पुराना घी उपर्युक्त सभी रोगों में अधिक लाभकारी है और अमृत के समान है। पुराना घी अभ्यंग के काम आता है और इसे सर्दी में सीने और पसलियों पर मलते हैं। यह हृद्रोग, वातिक कास (सूखी खाँसी), श्वास रोग और पार्श्वशूल को ठीक कर देता है। माथे और तालु पर लगाने से यह ज्वर को उतार देता है और जबान की लड़खड़ाहट को दूर कर देता है।

पुराना घी रूपरंग में मोम जैसा पीला होता है। उससे भी पुराना घी लाल होता है और उसकी अपनी अलग गंध भी होती है। दस वर्ष पुराना घी पर्याप्त पुराना माना जाता है। बहरहाल घी जितना ही पुराना हो उतना ही अच्छा होता है। सौ साल पुराने घी को 'कुंभ सर्पि' कहते हैं। चक्रपाणिदत्त के अनुसार दस साल पुराना घी 'पुराण घृत' और उससे पुराने घी को *'प्रपुराणघृत'* कहते हैं।

घृत के दो भाग होते हैं। एक भाग दानेदार होता हे जो नीचे बैठ जाता हे उसे 'कणभाग' कहते हैं। दूसरा भाग जो ऊपर तैरता रहता है 'मंदभाग' कहलाता है। ऊपर के साफ भाग को 'घृतमंद' कहते हैं जो स्वाद में मधुर होता है। यह योनि, कान, आंख और सिर की पीड़ा को दूर करता हे और बस्ति, नस्य, और अक्षि तर्पण आदि उपचार में काम आता है। अग्य औषधों (उत्कृष्ट औषधों) का वर्णन करते हुए चरक ने लिखा है *'सर्पिर्वातपित्त प्रशमनानाम्'* (च.सं.सू. २५/४०) अर्थात् घी वात और पित्त का शमन करने में सर्वश्रेष्ठ है। अन्य पशुओं जैसे बकरी, भेड़, भैंस आदि का घी उनके दूध के समान गुणकारी है।

घृत जो चार महास्नेहों अर्थात् सर्पि, तैल, वसा और मज्जा में अन्यतम है निम्न प्रकार से बनाया जाता है *'गोमाहिष्यादीनां दुग्धाद् तज्जदध्नो वा स्नेहसार रूपेण घृतं पृथग्भवति नवनीतस्याग्नि संस्कारेण घृतं जायते'*(अ.सं.सूत्र ५/३७) अर्थात् गाय, भैंस आदि के दूध से निर्मित दही को मथकर उसके वसीय भाग को अलग कर देते हैं जो नवनीत कहलाता है। नवनीत का अग्नि संस्कार करने से घी बन जाता है। तीन मधुर स्कंद द्रव्यों में घृत उत्तम है जबकि शेष दो शहद और गुड़ हैं।

घी के उपयोग

घी का आहार और औषध दोनों रूपों में व्यापक प्रयोग होता है। दोनों में घी महत्वपूर्ण है और उसके अनेक उपयोग हैं। खाना बनाने में इसका प्रयोग करने से उसमें अत्यंत प्रिय खुशबू आती है और चिकनाई बढ़ती है।

योगवाहिता के कारण औषधि प्रदान करने में इसका माध्यम के रूप में प्रयोग होता है जिससे अनेक दवाओं को सफलतापूर्वक दे पाना संभव होता है। घृत स्वयं में और अन्य दवाओं के साथ वातज एवं पित्तज रोगों में प्रभावशाली होता है। पित्त शमन के लिए यह चुनी हुई दवा है। चरक का कथन है, *"सहस्रवीर्यं विधिभिः घृतं सहस्रकर्मकृत्"* (च.सं.सू. २७/२३२) अर्थात् बतायी गयी विधि से देने पर उसकी शक्ति हजार गुना बढ़ जाती है और उसके अनेक उपयोग हो जाते हैं। वाग्भट्ट का कथन है, (अ.सं.सू. ५/३९) *'इदं संस्कारात् कर्मसहस्रकृत्'* अर्थात् प्रसंस्कृत होने पर इसके कार्य बहुमुखी हो जाते हैं।

पित्ताधिक्य में चाटकर और वाताधिक्य में पीकर घी का सेवन करना चाहिए। अर्थ यह कि पित्त की अधिकता कम घी खाने से दूर हो जाती हे लेकिन वात दोष दूर करने के लिए अधिक घी की आवश्यकता होती है।

दोषों पर क्रियाविधि

'शैत्यात् पित्तं जयेत्, स्नेहात् वातं जयेत्, योगसंस्कारतः कफंजयेत्'

(अ.सं.चि.२)।

अर्थात अपने शीत गुण से यह पित्त को और स्निग्धता से वात को जीत लेता है। हालांकि यह स्वयं कफ की वृद्धि करता है, लेकिन यह दूसरी दवाओं के साथ मिलकर अथवा यदि इसे कफहर गुणों वाले औषध द्रव्यों जैसे पटोलादिगण या तिक्तस्कंद द्रव्यों के साथ प्रसंस्कृत किया जाय तो यह कफ-पित्त या पित्त-कफ रोगों का शमन करता है। यह इसकी उत्तम योगवाहिता का प्रमाण है। (योगवाहिता वह गुण है जिसके कारण कोई पदार्थ जिसमें मिलाया जाता है या जिसके साथ प्रसंस्कृत किया जाता है। उसके गुणों को इतना बढ़ा देता है कि उसके अपने गुण भी दब जाते हैं।)

घृत क्यों उत्तम स्नेह है?

चारों महास्नेहों में घृत लघुतम है और अतः अग्नि के बहुत तीव्र न रहने की स्थिति में भी दिया जा सकता है। स्निग्ध होने पर भी घृत गुरु नहीं है। जिससे घी में अनोखापन आ जाता है।

'घृतात् तैलं लघु, तैलात् वसा, वसायाश्च मज्जा गुरुः'(अ.सं.सू. २५)। वाग्भट्ट कहते हैं (अ.सं.सू. २५/५-६) *'मज्जावसा तैलेभ्यो घृतं संस्कारस्यानुवर्तनात् माधुर्यात् विदाहाच्च श्रेष्ठं।'* अर्थात् यह अन्य तीनों से इस अर्थ में भिन्न है कि संस्कार से इसमें विविध गुण उत्पन्न होते हैं (इसमें अन्य पदार्थों के गुणों को आत्मसात् करने की अनोखी शक्ति है।)

घृत के उपयोग में सावधानी

यद्यपि घृत पित्तशामक है तथापि कभी-कभी घृतपान से अतिशय प्यास या तृष्णा हो सकती है। (अ.सं.सू. २५/६०)। अतः केवल पित्त में घृतपान का परामर्श नहीं देना चाहिए विशेष रूप से यदि पित्त साम हो। क्योंकि साम अवस्था का पित्त, घृत की सहायता से सारे शरीर में फैल जाता है और संपूर्ण शरीर में अव्यवस्था उत्पन्न करता है और चेतना को क्षति पहुंचाकर हानि कर सकता है। यद्यपि घी का प्रयोग सभी ऋतुओं में करना चाहिए। लेकिन घृतपान केवल शरद् ऋतु में करना चाहिए।

दूध और उसके उत्पाद

पानी की तरह दूध भी ऊर्जा प्रदान करता है और महत्वपूर्ण तथा अनिवार्य वस्तु है। इसे प्रायः पानी के बाद दूसरा स्थान दिया जाता है। सभी निघंटुओं में पानी के बाद दूध का वर्णन मिलता है। दूध का वर्णन वेदों में भी पाया जाता है। दूध को सदा ही सात्विक गुण का पवित्र आहार माना गया है। ईश्वर और महात्माओं को भेंट करने के लिए यह उत्तम पदार्थ है। कोई भी पूजा या कर्मकांड दूध के नैवेद्य के बिना पूरा नहीं होता। यह पवित्रता, शक्ति और स्वास्थ्य का प्रतीक है। यहाँ तक कि गोपालन

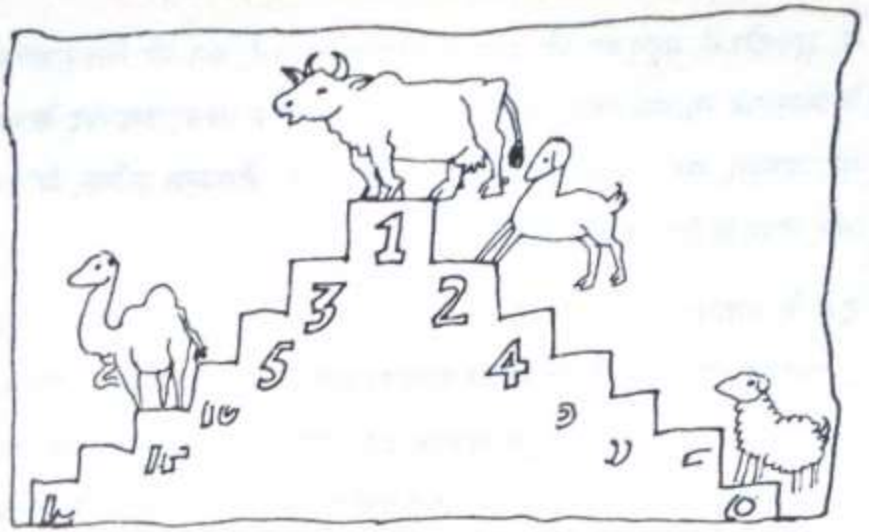

की गणना भी एक उत्तम व्यवसाय के रूप में की जाती थी। भगवान विष्णु ने एक गोपालक परिवार में जन्म लेना ठीक समझा। इसलिए आयुर्वेद में भी दूध को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। आयुर्वेद के अनुसार दूध जीवन भर लेने की चीज़ है। चरक ने कहा है कि घी और दूध का सेवन पुनर्यौवन की प्राप्ति का उत्तम उपाय है।

दूध के गुण

दूध मधुर, स्निग्ध, शीत, दुग्धवर्धक, ताजगी प्रदान करने वाला, पोषक, कामोत्तेजक, बुद्धिवर्धक, बल्य, ऊर्जा प्रदान करने वाला और थकान मिटाने वाला है। यह समस्त प्राणियों के लिए हितकर और दोषों का निराकरण करने वाला है। यह क्षुधावर्धक भी है (च.सं.सू. १/१०७-११२)

रोगों में उपयोग

यह कष्टश्वसन और श्वसनी शोथ में आराम पहुंचाता है और रक्तपित्त (शरीर के विविध भागों से रक्तस्राव) ठीक कर देता है, घाव भर देता है और प्यास बुझाता है। यह क्षतक्षीण (थाईसिस), पांडु, अम्लपित्त (खट्टी डकार) शोष (क्षय), गुल्म (पेट का फोड़ा), उदर रोग (जलोदर और अन्य उदर रोग), अतिसार, ज्वर, दाह, और विशेष रूप से श्वयथु (शोथ, सूजन) में अत्यंत लाभकारी है। यह नारी जननपथ की व्याधियों

में, शुक्रदोष में, बहुमूत्रता और कब्ज में भी लाभ करता है। वात और पित्त के रोगियों के लिए यह स्वास्थ्यवर्धक आहार है। दूध का हमेशा से नस्य (नासा बिंदु के रूप में), अभ्यंग, स्नान, वमन, आस्थापन (एक प्रकार का औषधीकृत एनीमा), विरेचन और लेपन के लिए प्रयोग किया जाता रहा है।

दूध के प्रकार

आयुर्वेद में दूध के अनेक प्रकारों का वर्णन हुआ है। जैसे गाय का दूध, भैंस का दूध, ऊंट का दूध, बकरी का दूध, भेड़ का दूध, नारी का दूध और घोड़ी और गधी जैसे खुरवाले जानवरों का दूध। उक्त सभी दूधों में गाय का दूध श्रेष्ठ और दैनिक उपयोग के योग्य है। शेष सभी दूध विशेष परिस्थितियों के ही उपयुक्त हैं।

नवजात एवं शिशुओं को केवल स्तनों का दूध दिया जाना चाहिए। नेत्रश्लेष्मलाशोथ में आंखों में स्तन्यदुग्ध टपकाया जाता है। भैंस का दूध अनिद्रा रोग में साथ ही पाचन शक्ति के बढ़ जाने पर (भस्मक) भी उपयोगी है। बकरी का दूध क्षय और कास (खांसी) में उपायोगी है। ऊंट का दूध क्रिमि, अर्श, खाँसी और वात एवं पित्त के रोगों में लाभदायक है।

गाय का दूध उत्तम माना जाता है क्योंकि इसमें ओज के समस्त गुण होते हैं और यह बेजोड़ अमृतोपम है। थन से निकला हुआ ताजा बिना आंच पर गरमाया गुनगुना दूध निश्चय ही अमृत से तुलनीय है।

दूध के गुण किस बात पर निर्भर हैं?

ऊपर बताये गये सभी प्रकार के दूध पशु के रंग, उम्र, स्थिति, आहार, गतिविधि, दूध दुहने के समय, उस पर किये गये संस्कार और पीने के समय के अनुसार गुणदायक हैं।

पशु का रंग

काली गाय का दूध वातहर और अधिक उपयोगी है। पीली गाय का दूध पित्तवातहर है। सफेद गाय का दूध कफ करता है और गरिष्ठ है (भावप्रकाश निघंटु, दुग्धवर्ग, ९-१०)।

पशु की अवस्था

सद्यः प्रसूता गाय के दूध में और चिरप्रसूता (बकैनी) गाय के दूध में बहुत अंतर होता है। सद्यः प्रसूता गाय का दूध सभी दोषों को बिगाड़ देता है और बकैनी गाय का दूध सभी दोषों का नियंत्रण करता है साथ ही ताजगी, तृप्ति और बल देता है। (भावप्रकाश निघंटु दुग्धवर्ग श्लोक ११)।

पशु का आहार

जिस गाय को चारे के साथ थोड़ा आहार भी दिया गया हो उसका दूध भारी, कफकारक, बलदायक और अत्यंत वृष्य होता है जबकि जिस गाय को भूसा, सूखी घास, बिनौला और हरी घास दी जाती है उसका दूध रोगियों और कमजोर लोगों के लिए हितकर होता है (भा.प्र.नि.दु. १३-१४)।

आवास

गाय का आवास भी उसके दूध को प्रभावित करता है। सूखी भूमि, गीली भूमि और पहाड़ी भूमि पर चरने वाली गायों का दूध, क्रमशः उत्तरोत्तर गरिष्ठ होता है। इस बात को उनके द्वारा खाये गये चारे की मात्रा से समझा जा सकता है। पर्वतीय क्षेत्रों में चारागाह की अधिकता से गाय को खाने को यथेष्ट मिलता है। दूध में वसा का अंश गाय की खुराक की मात्रा और गुण के अनुपात में बढ़ता है और उसी वसा या स्नेहांश के अनुपात में दूध की गरिष्ठता भी बढ़ती है।

दुहने का समय

सबेरे का दुहा दूध शाम के दुहे दूध की अपेक्षा गुरु और ठंडा होता है शाम का दूध वात और कफ शामक तथा सुबह के दूध की अपेक्षा हल्का होता है। ऐसा इसलिए कि रात में चंद्रमा और वायु के प्रभाव से वातावरण ठंडा होता है और रात में पशु बैठे रहते हैं जबकि दिन में धूप तथा चलने-फिरने और चरने से पशु में गरमी आती है। (भा.प्र.नि.दु. श्लो. ३७-३८)

प्रसंस्कृत दूध

भावप्रकाश ने दो प्रकार के प्रसंस्कृत दूध बताये हैं। मथा हुआ दूध और मथने से प्राप्त झाग। गाय और बकरी का दूध यदि भलीभाँति मथा और हल्का गरम हो तो वह पचने में आसान, ज्वरहर तथा समस्त दोषों का नियंत्रण करने वाला होता है। गाय या बकरी के दूध का झाग त्रिदोषशामक, क्षुधावर्धक, बलदायक, पाचन शक्तिवर्धक शुक्रशोधक, तृप्तिदायक और हल्का होता है। यह अतिसार, पाचन शक्ति के अभाव और पुराने ज्वर में भी लाभदायक है (भा.प्र.नि.दु. श्लो. ४३-४५)

सेवन काल

जीवन की विभिन्न शैशव, कैशोर आदि अवस्थाओं और दिन के अलग-अलग समय में भिन्न-भिन्न प्रभाव उत्पन्न करता है। सबेरे लिया हुआ दूध पाचन और ऊतक निर्माण के लिए अच्छा है, दोपहर के बाद कफ और पित्त का शमन करता है और रात में सभी दोषों को शुद्ध करता है और आँखों के लिए भी हितकारी होता है। बचपन में वृद्धि के लिए और बुढ़ापे में शुक्ररक्षा के लिए दूध उत्तम है।

कतिपय अवस्थाओं में दूध के उपयोग

- कमजोरी में दूध अत्यंत उपयोगी है।
- यदि नित्य रात में दूध लिया जाय तो विदाहि आहार (जिसके पाचन काल में जलन की अनुभूति हो) से उत्पन्न जलन का शमन होता है।

- अनिद्रा की स्थिति में एक गिलास दूध जिसमें शक्कर या शहद पड़ी हो, बड़ा उपकार करता है।
- प्रसवपीड़ा में दूध में शहद मिलाकर देने से प्रसवपीड़ा की अवधि कम होती है और थकी हुई गर्भिणी ताजा महसूस करती है।
- नरम नारियल के साथ दुग्ध सेवन से अल्पमूत्रता में लाभ होता है। साथ ही मूत्रपथ की अन्य शिकायतों में भी लाभ होता है।
- चुटकी भर हल्दी और काली मिर्च चूर्ण के साथ रात में लेने से गले की खराश, बंद नाक, सर्दी, सूखी खाँसी और टांसिल की वृद्धि में लाभ होता है।
- सोंठ और दूध का काढ़ा बनाकर पीने से प्रवाहिका और अतिसार ठीक हो जाता है।
- एक चम्मच घी के साथ दूध पीने से हिचकी बंद होती है।
- रक्ताल्पता में मक्खन और गुड़ के साथ दूध लेने से परम लाभ होता है।

किस प्रकार के दूध से बचें ?

'विवर्णं विरसं चाम्लं दुग्धं ग्रथितं पयः वर्जयेदम्लं लवणयुक्तंकुष्ठादिकृत् यतः'

अर्थात्

- बदरंग
- खट्टा या नमकीन
- दुर्गंधयुक्त
- दानेदार या तलछटवाला। क्योंकि ऐसा दूध रोगजनक है।

दूध : औषधि और अनुपान

कभी-कभी केवल दूध औषध के रूप में प्रयोग किया जाता है जैसे नेत्राभिष्यंद में नारी के दूध से आराम आ जाता है। इसी प्रकार अधोगत रक्तपित्त में बकरी का दूध रक्तस्राव बंद कर रोगी को आराम पहुंचाता है। अनेक दवाओं के वाहन स्वरूप में,

खास तौर से बच्चों को, दूध अनुपान के रूप में अपयोगी है। साथ ही समस्त लेह्यों और रसायनों के लिए दूध अनुपान है। कामला के रोगी को भूम्यामलकी लेह्य के साथ अनुपान के रूप में दूध दिया जाता है।

दूध के सह उत्पाद और उनके गुण

मलाई

मलाई गरिष्ठ, वृष्य, तृप्तिकारक, वृद्धिकारक, स्निग्ध, कफकारक, बलदायक और शुक्रवर्धक होती है।

दही

यह उष्ण, चिकनाई रहित, भारी, स्तंभक, कषायानुरस और अम्ल विपाकी होता है। यह पाचन शक्ति, बल, वीर्य, पित्त और रक्त के विकार, शोथ, पेशी वसा और कफ को बढ़ाता है। पेशाब की तकलीफ, नाक बहने, रुक-रुक कर आने वाले ज्वर, अतिसार, क्षुधानाश और दुर्बलता में दही लाभ करता है। दही के बारे में लोगों की सामान्य गलत धारणा यह है कि यह अत्यंत ठंडा है अतः सर्दी और ज्वर में इसका सेवन नहीं करना चाहिए किंतु भावमिश्र के वर्णनानुसार तथ्य इसके विपरीत ही हैं।

दही का वर्गीकरण दूध के स्रोत के अनुसार किया जाता है और दूध के अनुसार ही दही का गुण निर्धारित होता है। दही को पांच प्रकारों में वर्गीकृत किया जाता है। यह वर्गीकरण उसके निर्माण की अवस्थानुसार होता है। उनके गुण निम्नवत हैं :-

मंद दधि - अर्थात् ठीक से न बना हुआ दही। यह मूत्रविसर्जक है, त्रिदोष को बिगाड़ता है और जलन उत्पन्न करता है।

स्वादु दधि- जमा हुआ किंतु मीठा, जिसमें खट्टापन आया ही न हो। यह शरीर में क्षोभ उत्पन्न करता है और शुक्र, पेशी वसा और कफ को बढ़ाता है वात और रक्तपित्त को नियंत्रित करता है और मधुर विपाकी है।

स्वाद्वम्ल दधि – भलीभाँति जमा हुआ, मधुर और कषाय रस दही जिसमें दही के सभी सामान्य गुण हों।

अम्ल दधि – जिस दही में मधुरता छिपी हो और खट्टापन तेज हो। यह भूख तेज करता है, और पित्त तथा रक्त के विकार और कफ को बढ़ाता है।

अत्यम्ल दधि– इतना खट्टा दही जो दाँत खट्टे कर दे, गले में जलन और शरीर को रोमांचित कर दे।

तक्र

तक्र या मट्ठा दही को आठ गुने पानी के साथ मथने से प्राप्त होता है। दही की तुलना में मट्ठा लघु होता है और अभिष्यंदि नहीं होता। यह स्वाद में कषाय और अम्ल होता है। यह पाचन में सुधार करता है, वात और कफ दोषों का नियंत्रण करता है तथा जलोदर, ग्रहणी, बवासीर, भूख न लगना मूत्राल्पता या मूत्रावरोध, प्लीहा रोग, घी आदि स्नेहो के अतिसेवन से उत्पन्न लक्षणों, कृत्रिम विष और रक्ताल्पता को नियंत्रित करता है (अ.सं.सू. ६/६९–७०)। मट्ठे के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है–

अमरत्वं यथा स्वर्गे देवानां अमृतादभवेत्।
तक्रात् भूमौ तथा नृणां अमृतत्वं हि जायते।।

अर्थात् जैसे स्वर्ग में देवताओं को अमृत द्वारा अमरता प्राप्त होती है उसी प्रकार धरती पर मनुष्यों को मट्ठे से अमरत्व की प्राप्ति होती है। (क्षेमकुतूहलम्, द्वादशोत्सव, श्लो. ८६)।

तक्र निषेध

उरःक्षत (सीने की चोट) अथवा शरीर के किसी भाग में चोट, ग्रीष्म ऋतु, कमजोरी, चक्कर, मूर्च्छा, जलन, रक्तस्राव और रक्तधातु और पित्तज रोगों में मट्ठा नहीं लेना चाहिए। तक्र के ऊपर तैरता हुआ साफ पानी भी तक्र के समान गुणकारी है परंतु

विशेषरूप से स्रोतोशोधक, सार गुण वाला और विष्टंभ दूर करने वाला है। क्षेमशर्मा ने सेंधा नमक, भुने हुए धनिया बीज के चूर्ण, भुनी हींग और घी के साथ तक्र लेने को बताया है (क्षेमकुतूहलम्, द्वादशोत्सव श्लोक ८२)।

नवनीत(मक्खन)

यह शीतवीर्य, मधुर दही के समान कषाय या अम्ल स्वादवाला होता है और क्षय (टी.बी.), अर्श (बवासीर), चेहरे के पक्षाघात, रक्तस्राव और रक्तपित्त तथा वात रोगों में उपयोगी है। यह ग्राही और अग्निदीपक है। दूध से सीधे निकाला हुआ मक्खन अत्यंत स्तंभक, नेत्र रोगों और रक्तस्राव में अत्यंत हितकर होता है।

अन्न वर्ग

अन्न स्वयं में दोषमुक्त होता है क्योंकि यह अनिंद्य और दोषरहित है। किंतु उसके निर्माण काल में उसमें दोषों का प्रवेश असावधानी के कारण हो जाता है। अन्न के आठ दोष होते हैं :-

१. आस्रुत

२. पिच्छिल

३. अशुचि

४. क्वथित

५. शुष्क

६. दग्ध

७. विरूप

८. अनर्तुज

इन दोषों का स्वभाव और कुप्रभाव निम्नवत् है :-

आस्रुत अन्न – जिस चावल को ठीक से छाना नहीं गया (अर्थात् चावल के पक जाने पर थोड़ा पानी रह गया) और किण्वन के कारण खट्टा पड़ गया हो उसे आस्रुत अन्न कहते हैं। इस प्रकार के अन्न का सेवन करने से शरीर में सभी प्रकार की बीमारियाँ हो सकती हैं।

पिच्छिल अन्न – जब चावल को आवश्यकता से अधिक पका देते हैं तो वह पिच्छिल दोषयुक्त चिपचिपा हो जाता है। यह अन्न अग्नि को समजोर करता है और फिर व्यक्ति सामान्य भात नहीं पचा पाता।

अशुचि अन्न : वह अन्न जो शुद्ध नहीं है जिसमें कृमि, बाल आदि हों। इससे क्षुधानाश और लालास्राव की अति होती है।

क्वथित अन्न : कम चावल को अधिक पानी में पकाने से बना भात। इसके सेवन से मानसिक असामान्यताएं उत्पन्न होती हैं।

शुष्क अन्न : जब भात बहुत देर तक रखा रहने के कारण सूख जाय तो उसे शुष्क अन्न कहते हैं। इसे खाने से अपच हो सकता है।

दग्ध अन्न : आंच के तेज होने से जला हुआ भात। इसके सेवन से (रक्त, पेशी आदि) धातुओं का क्षय होता है।

विरूप अन्न : जब चावल की भूसी ठीक से उतारी न गयी हो तो भात विरूप हो जाता है। इसे सेवन करने से आयु, बल और शक्तिमत्ता की कमी होती है।

अनर्तुज अन्न : बेमौसम का या बहुत पुराना चावल। किसी खास ऋतु में उत्पन्न चावल को किसी खास मौसम में ही लेने का रिवाज है। ऐसा न करना अनर्तुज अन्न सेवन है। इससे नींद, झपकी, आलस्य और कमजोरी होती है।

कुछ विशेष विषय

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं आयुर्वेद में ऐसी परिकल्पनाएं हैं जिनके समकक्ष परिकल्पनाएं पाश्चात्य पोषण विज्ञान में नहीं हैं। विरुद्धाहार एक ऐसी ही परिकल्पना है। इस अध्याय में विरुद्धाहार, पाकशास्त्र और उपवास पर विचार किया जा रहा है। इसमें हमने संक्षेप में आहार के आयुर्वेदीय वर्गीकरण अर्थात् अन्नवर्ग और मौखिक स्वास्थ्य विज्ञान पर भी विचार किया है।

विरुद्धाहार की परिकल्पना

विरुद्धाहार आयुर्वेदीय आहारशास्त्र की अनोखी परिकल्पना है। विरुद्धाहार यानी बेमेल चीजों को एक साथ खाना। अर्थात् हर खाने की चीज को हर समय और हर किसी चीज के साथ मिलाकर खाना ठीक नहीं। दो अलग-अलग वस्तुएं-खाद्य या पेय- जो अलग-अलग लेने से स्वास्थ्यवर्धक हैं, संभव है मिलाकर लेने से हानि करें। समान मात्रा में घी और शहद का उदाहरण एक सामान्य उदाहरण है। हम अपने बुजुर्गों से सुनते आये हैं कि समान घी और शहद का सेवन घातक हो सकता है। एक और विरुद्धाहार जो प्रायः सबको विदित है वह है मछली और दही या दूध का एक साथ सेवन। ऐसे अनेक रिवाज़ हैं, जो आज भी प्रचलित हैं। ऐसे संयुक्ताहार का त्याग करने के पीछे जो भी कारण हों, उसके मूल में अस्वास्थ्यकर मेल से बचने की भावना है, जिसके पीछे विरुद्धाहार की परिकल्पना है।

विरुद्धाहार क्या है?

खाद्य-पदार्थों का ऐसा मेल, जिसके सेवन से दोष बिगड़ जाते हैं और ऐसे दोषों की गतिविधि बढ़ जाती है, परंतु दूषित दोष शरीर से बाहर नहीं निकल पाते,

किद्धाहार कहलाता है। इससे रसादि धातु दूषित हो जाते हैं और रोग की उत्पत्ति होती है। *"यत् किंचित् दोषमुत्क्लेश्य भुक्तं कायात् न निहरित् रसादिषु अयथार्थं वा तद्विकाराय कल्पते"* (सुश्रुत संहिता सूत्र २०/२०)।

विरुद्धाहार से होने वाले रोग

चरक ने किद्धाहार से होने वाले रोगों की सूची दी है जो इस प्रकार है :

दकोदरानाम्, विस्फोटक उन्माद भगंदराणाम् मूर्च्छा मद आध्मान गलग्रहाणां, पांड्वामयस्य आमविषज चैव, किलास कुष्ठ ग्रहणी गदानां, शोथाम्लपित्तज्वर पीनसानां, संतानदोषस्य तथैव मृत्योर्विरुद्धं अन्नं प्रवदन्ति हेतुम् (चरक संहिता, सूत्र २६/१४२,१४३)

विरुद्धाहार से उत्पन्न होने वाले रोग हैं–

नपुंसकता, अंधापन (आंशिक, पूर्ण), दाद, जलोदर, छाले, फफोले, कतिपय भौतिक एवं व्यक्तिगत परिवर्तनों के साथ मानसिक असंतुलन, गुदा में नासूर, अचानक मूर्च्छा के दौरे, प्रत्यक्ष ज्ञान की क्षति, पेट फूलना, गले में अवरोध, रक्ताल्पता (कांति की कमी, विवर्णता और ऊतक उपापचय की कमी), अपर्याप्त पाचन से उत्पन्न पदार्थों से विषमयता, चर्मरोग, अट्ठारह दीर्घकालीन चर्म विकार, ग्रहणी की कमजोरी

(जो बारी-बारी से होने वाले अतिसार और कब्ज के रूप में प्रकट होती है), शोथ (स्थानीय या सार्वदैहिक) ज्वर, बार-बार सर्दी होना, नाक बहना, संतानों में जन्मजात दोष और अकालमृत्यु।

इस लंबी सूची को देखने से ज्ञात होता है कि चरक ने किद्धाहार से होने वाले रोगों में, शरीर के सभी भागों में, अर्थात् पंच ज्ञानेन्द्रियों और पंच कर्मेन्द्रियों में होने वाली व्याधियों का समावेश कर दिया है।

विरुद्धाहारों के प्रकार

आहार अनेक प्रकार से बेमेल हो सकते हैं। चरक ने १८ प्रकार के किद्धाहार बताये हैं जो निम्नवत् हैं :-

विरुद्ध का स्वभाव	विरोध का कारण
१. देश विरुद्ध	स्थान का हेरफेर
२. काल विरुद्ध	समय का हेर फेर
३. अग्निविरुद्ध	पाचन शक्ति का हेरफेर
४. मात्रा विरुद्ध	परिमाण का हेरफेर
५. सात्म्य विरुद्ध	आदत की हेर फेर
६. दोषविरुद्ध	दोष का हेर फेर
७. संस्कारविरुद्ध	निर्माण विधि का हेर फेर
८. वीर्यविरुद्ध	शक्तिमत्ता का हेर फेर
९. कोष्ठविरुद्ध	पाचन पथ की प्रकृति में हेर फेर
१०. अवस्थाविरुद्ध	स्वास्थ्य की स्थिति में हेर फेर
११. क्रमविरुद्ध	तरतीब में हेर फेर

१२. परिहारविरुद्ध	विधि–निषेध में हेर फेर
१३. पाकविरुद्ध	पकाने में हेर फेर
१४. उपचारविरुद्ध	परिहारविरुद्ध के समान
१५. संयोगविरुद्ध	मेल में हेर फेर
१६. हृद्विरुद्ध	रुचि में हेरफेर
१७. संपद् विरुद्ध	गुणों में हेर फेर
१८. विधि विरुद्ध	भोजन के नियमों में हेर फेर

उपर्युक्त विरुद्धाहारों में से कुछ को उदाहरणों द्वारा नीचे समझाया जा रहा है:–

देश(स्थान)

मरुस्थल में रूखे और तीखे पदार्थों का सेवन, दलदली भूमि में स्निग्ध और शीत पदार्थों का सेवन।

काल(समय)

सर्दी में शुष्क और ठंडे पदार्थों का सेवन, और गर्मी में गरम और तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन।

अग्नि (पाचन शक्ति)

मंदाग्नि की स्थिति में, जैसे उपवास के बाद गरिष्ठ पदार्थ का सेवन।

मात्रा

कुछ चीजें एक निश्चित अनुपात में बेमेल होती हैं जैसे बराबर–बराबर घी और शहद का सेवन।

सात्म्य(आदत)

उष्ण और तीक्ष्ण आहार लेने की आदत वालों द्वारा मीठे और ठंडे पदार्थों का सेवन।

दोष (शारीरिक गठन)

जो आहार व्यक्ति की रुचि से बेमेल हो और उसकी प्रकृति (दोष रचना) के विरुद्ध हो। उदाहरण के लिए वात प्रकृति के व्यक्ति के लिए गरम, चिकनाईदार और मीठा आहार संरक्षक होगा, जो उसकी वायु के स्तर को नियंत्रित रखेगा लेकिन यदि वह सूखा, रूखा और कड़वा आहार लेगा तो वह व्यक्ति के वात को और भी बढ़ा देगा और वात रोग के रूप में फूट पड़ेगा।

संस्कार (निर्माण विधि)

आहार और औषधि का निर्माण यदि ठीक से न किया जाय तो विषैला प्रभाव उत्पन्न करता है, जैसे ठीक से न जमा हुआ दही और समुचित रूप से शोधन न किये हुए पारे से निर्मित औषधियाँ।

वीर्य (शक्तिमत्ता)

ठंडी तासीर वाले द्रव्यों और गरम तासीर वाले द्रव्यों को जैसे मछली और दूध मिलाकर लेना।

कोष्ठ(आँत)

किसी क्रूरकोष्ठ (कब्जियत) वाले व्यक्ति को हल्का विरेचन कम मात्रा में देना। अथवा मृदुकोष्ठ (नरम कोठा) वाले व्यक्ति को तीव्र विरेचन अधिक मात्रा में देना।

अवस्था (स्वास्थ्य की स्थिति)

थकान, यौनाचार, व्यायाम के बाद वातकारक आहार लेना या तीव्र विरेचन लेना अथवा नींद से उठते ही कफवर्धक आहार लेना।

क्रम(तरतीब)

मल-मूत्र विसर्जन करने से पहले खाना या भूख न होने पर भी खाना अथवा भूख को बहुत बढ़ जाने देना और तब खाना। क्रम से तात्पर्य विविध रसों की वस्तुओं

को खाने के क्रम से भी है। रस के आधार पर खाने का क्रम सुनिश्चित है। स्वस्थवृत्त के लेखक क्षेमशर्मा के क्षेमकुतूहलम् में लिखा कि है पहले मधुर और तब अम्ल और फिर लवण और अंत में कटु, तिक्त और कषाय रसों का सेवन करना चाहिए। फिर भी यदि आहार अत्यधिक मसालेदार है तो अंत में मधुर रस का सेवन करने को कहा है। यह भी कहा गया है कि भोजन से पूर्व फल लेना चाहिए लेकिन केला और ककड़ी खाने के पूर्व नहीं लेना चाहिए।

परिहार-उपचार (विधि-निषेध)

सुअर का मांस खाने के बाद उष्ण पदार्थ का सेवन और घी के बाद ठंडी चीजों का सेवन।

पाक (भोजन पकाना)

खराब और सड़े हुए ईंधन पर खाना पकाना और कम पकाना या अधिक पकाना। पकाते समय पदार्थ का जल जाना।

संयोग

गलत मेल, जैसे खट्टी चीजों के साथ दूध का सेवन।

हृद्य

जो भी वस्तु रुचि के अनुकूल न हो उसका सेवन।

विधि

हंसते-बोलते हुए खाना अथवा अस्वास्थ्यकर जगह पर खाना खाना।

संपत्

जो चीजें ठीक से न पकी हों या अधिक पकी और सड़ गयी हों उन्हें खाना।

विरुद्धाहार के कुप्रभावों की चिकित्सा

विरुद्धाहार के प्रभावों की चिकित्सा दो प्रकार की है। एक तो कुप्रभाव के प्रकट होने पर शोधन चिकित्सा करना और दूसरा रोकथाम के उपाय करना और शरीर का ऐसा अनुकूलन करना कि विरुद्धाहार निरापद हो जाय। चरक ने विरुद्धाहार से उत्पन्न रोगों के चार उपचार–विरेचन, वमन, विषघ्न औषधि प्रयोग और रोगरोधन बताये हैं।

यदि व्यक्ति को नियमित प्रयोग से विरुद्धाहार का अभ्यास (ओक सात्म्य) हो या उसने अल्पमात्रा ली हो, या उसकी पाचन शक्ति प्रबल हो, या वह युवा हो या उसने स्नेहन चिकित्सा करायी हो, या व्यायाम के कारण उसका शारीरिक गठन बहुत अच्छा हो तो विरुद्धाहार उसके स्वास्थ्य को प्रभावित नहीं करता। भारत के विभिन्न हिस्सों में ऐसी प्रथाएं प्रचलित हैं जो विरुद्धाहार के कुप्रभावों का प्रतिरोध करती हैं। जैसे केरल में छोटे बच्चों को दही या मटठे के साथ केला दिया जाता है। यह विरुद्धाहार के प्रति बच्चों में रोग रोधकता उत्पन्न करने की एक विधि है क्योंकि विदित है कि केले और दही का संयोग बेमेल है।

कुछ बेमेल खाद्य

खट्टे खाद्य, चना, उड़द, मछली, मांस, कच्चा आम, मीठा नींबू, दही, मूली आदि के साथ दूध।

समान घी और शहद।

दही के साथ चिकन का मांस।

मूली और चना।

कटहल और दही।

काकमाची (मकोय, सोलैयनम नाइग्रम) गुड़, काली मिर्च और सोंठ के साथ। (अ.ह.सू. ७/३३)

निषिद्ध खाद्य और उनके संयोगिक

आधुनिक पोषण विज्ञान अपने ढाँचे के बाहर की पोषण संबंधी परिकल्पनाओं को समझने में कमजोर है। यह असमर्थता कुछ विशेष परिस्थितियों, जैसे निषिद्ध खाद्यों के संयोगिकों को समझने के क्षेत्र में विशेष रूप से परिलक्षित होती है। इन विश्वासों के संदर्भ में आंध्र प्रदेश के एक प्रसिद्ध शोधकर्ता का कहना है– "यह विश्वास कि कुछ खाद्यों के संयोग अस्वास्थ्यकर हैं और कुछ संयोग स्वास्थ्यकर हैं इन लोगों में प्रचलित हैं। संभवतः संरक्षण की अपूर्ण–अनुपयुक्त विधियाँ और मनोवैज्ञानिक कारण इन विश्वासों के मूल में हैं। जिन सयोगों को हानिकारक माना जाता है उनमें अंडा और हरी सब्जियाँ तथा मछली और दूध प्रमुख हैं। लाभदायक संयोगों में आम खाकर उसकी उष्णता के निवारण के लिए दूध पीना, और मूंगफली खाकर उसके पित्त के निवारण के लिए गुड़ खाना सम्मिलित है। ऐसे विश्वास संपूर्ण भारत में पाये जाते हैं और क्षेत्रीय जन–समुदायों के मस्तिष्क में इतनी गहरी जड़ें जमा चुके हैं कि उनके सुधार के लिए चलाई गई किसी भी आहार परियोजना के अंतर्गत उन्हें बदलने का प्रयास व्यर्थ ही सिद्ध होगा।"

तथ्य यह है कि आयुर्वेदीय सिद्धांतों में इन विश्वासों का ठोस तर्काधार विद्यमान है। आयुर्वेद के अनुसार कुछ खाद्यों का संयोग कुप्रभाव उत्पन्न करता है जिसे विरुद्धाहार कहते हैं। वस्तुतः एक दर्जन से अधिक विरुद्धाहारों की सूची बनी है।

पाकशास्त्र

पाकशास्त्र एक कला और विज्ञान है। मत्स्य पुराण में इसे सूपशास्त्र भी कहा गया है। इसे सूपविद्या, पाकविद्या, अन्नविधि आदि नामों से भी जानते हैं। इस विज्ञान की समाप्ति पकाने की कला में ही खत्म नहीं हो जाती। इसमें सूपकार (रसोइया) परिवेषक या परिवेषिका (परोसने वाला या वाली) आदि के गुण और कर्तव्य, सभी खाद्यों के गुण, निर्माण–विधि आदि का समावेश होता है। इसमें ठीक प्रकार से न बने पदार्थों के अवगुण, शरीर पर उनके प्रभाव, प्रत्येक खाद्य को रखने के पात्र का निर्देश और प्रभाव, भिन्न–भिन्न धातु की थालियों और पत्तों में खाने का प्रभाव और रसोईघर (महानस/सूपागार) की स्थिति और योजना आदि का समावेश भी है।

अतः हम कह सकते हैं कि पाकशास्त्र केवल खाना बनाने की तरकीबों का संग्रह नहीं है बल्कि स्वयं में एक विज्ञान है। वात्स्यायन ने कामशास्त्र की चौंसठ सहायक कलाओं में सूपकला का समावेश किया है। पाकदर्पण, क्षेमकुतूहलम्, भोजन कुतूहलम्, आयुर्वेद महोदधि, अन्नपान विधि, आदि कतिपय ग्रंथ पूर्णतया पाकशास्त्रपरक हैं। लोकोपकार, मानसोल्लास और शिवतत्तवरत्नाकर आदि ग्रंथों में भी पाकशास्त्र पर एक पृथक अध्याय का समावेश है।

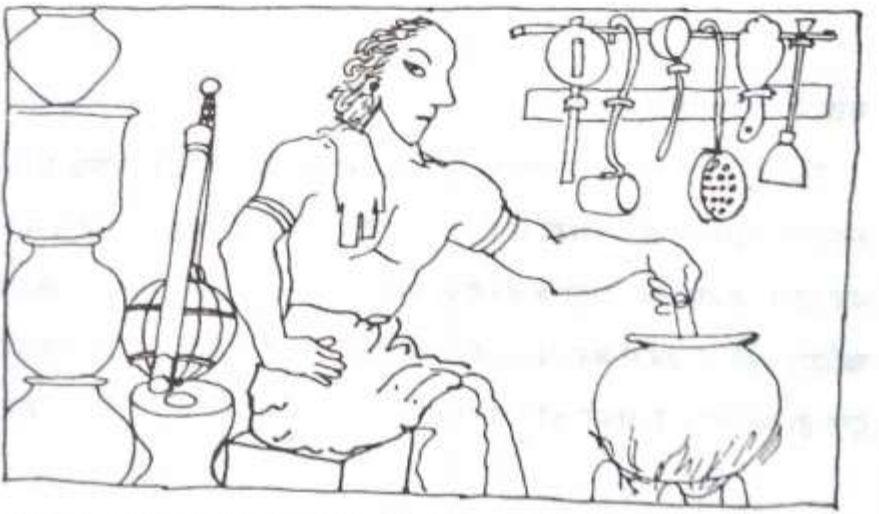

रसोइए के गुण

रसोइया स्थानीय क्षेत्र का निवासी होना चाहिए जहाँ वह कार्यरत हो। उसे अपनी विद्या में निपुण होना चाहिए। उसका स्वभाव अच्छा हो, इंद्रियाँ वश में हों, वंश अच्छा हो, और वह स्वच्छ, विश्वसनीय और मृदुभाषी हो। उसे विभिन्न धातुओं और उनके गुणों का भी ज्ञान होना चाहिए। उसे स्थान और समय के परिवर्तन से होने वाले हेर फेर का भी ज्ञान होना आवश्यक है। (पाकदर्पण, प्रथम भाग श्लोक २३-२५)।

परोसने वाले के गुण

परोसने वाला या परोसने वाली को कुलीन, सुहृदय, सुवेष और सुदर्शन होना चाहिए उसे चंदन का लेप लगाए होना चाहिए और उसमें सेवा भाव भी होना चाहिए।

रसोईघर का निर्माण शास्त्रोक्त रीति से किया जाना चाहिए। वह शत्रु और कीडे-मकोड़ों से सुरक्षित हो। उसमें कृमिनाशक चूर्ण का छिड़काव किया जाना चाहिए। यह घर के आग्नेय कोण (दक्षिण-पूर्व दिशा) में होना चाहिए। इसकी खिड़कियाँ जालीदार होनी चाहिए। ऐसे रसोईघर में भट्टी पश्चिमाभिमुख (पूर्व से पश्चिम की ओर फैली) होनी चाहिए। रसोईघर के विविध उपकरणों का वर्णन भी किया गया है।

पकाने-परोसने के बर्तन

स्वास्थ्य विज्ञान और पाकशास्त्र की पुस्तक क्षेम कुतूहलम् में लिखा है कि सामान्य लोगों के खाना पकाने के लिए मिट्टी के पात्र उत्तम हैं। पात्रों को पानी से साफ कर लेना चाहिए और मिट्टी के बर्तनों के अभाव में ही लोहे के बर्तन में खाना पकाना चाहिए। लोहे के पात्र में बना खाना आंखों के हितकर है और बवासीर को अच्छा कर देता है। भोजराज ने अपनी कृति चारुचर्या में कहा है कि लौह पात्र में बना खाना

वमनरोधी और रक्तात्पतारोधी है तथा रूप और आंख में सुधार करता है और शोथ को अच्छा कर देता है।

कांसे के बर्तनों का भारत में प्रचुर प्रयोग होता है। दक्षिण में इन्हें वेंगालम कहते हैं। यह तांबा, जस्ता और टिन का मिश्रण है। कांसे के पात्र बनाने में पात्र के उपयोगानुसार उसके घटक धातुओं के अनुपात में फर्क होता है। कांसे के पात्र में पकाया हुआ खाना, लाभदायक, शुद्ध और बुद्धिवर्धक होता है। भोजराज चारुचर्या में कहते हैं "कांसे के पात्र में बने या रखे खाने की प्रशंसा की जानी चाहिए। यह रक्त और पित्त की सक्रियता को बढ़ाता है। यह हृदय के लिए अच्छा है, भूख को बढ़ाता है और नेत्र रोगों को अच्छा कर देता है।" रघुनाथ सूरि के भोजन कुतूहलम् के अनुसार भी कांसे के पात्र में बनी रसोई स्वादिष्ट, बुद्धिवर्धक तथा पित्तनियामक और रक्त के रोगों का शमन करती है।

ताँबे के बर्तनों में बना खाना क्षुधानाशक है और अम्लपित्त उत्पन्न करता है। मगर पीने के पानी के संग्रह के लिए ताम्रपात्र उत्तम है। दूध, इमली दही आदि खाद्य तांबे के पात्र में नहीं रखने चाहिए। आज भी हम उत्तर और दक्षिण भारत के अनेक परिवारों में बुजुर्गों को तांबे के पात्र का पानी पीते हुए पाते हैं। (देखें बाक्स आइटम, अध्याय ७, ताँबे के पात्र)।

जो लोग सोने-चाँदी के बर्तनों में खाना पका सकते हैं, पकायें क्योंकि इन बर्तनों में बना खाना दोषों का शामक और मन को प्रसन्नता देने वाला है- *सर्वदोषघ्नं धिषाणोत्सवदायकं* भोजनकुतूहलम् के अनुसार सोने के पात्र सभी दोष दूर करते हैं और आँखों के लिए हितकर हैं। चाँदी के बर्तन भी त्रिदोषशामक और आंखों के लिए हितकर हैं।

भंडारण के पात्र

हमारे आचार्यों ने न केवल खाना बनाने के पात्रों पर जोर दिया है बल्कि विभिन्न खाद्यान्नों के भंडारण पर भी ध्यान दिया है। निर्दिष्ट प्रकार के पात्रों में भंडारण करने से खाद्यों की ताज़गी बनी रहती है, पात्र और खाद्यों में कोई क्रिया नहीं होती और खाद्यों के गुणों में अंतर नहीं आता।

क्षेमशर्मा क्षेमकुतूहलम् में कहते हैं कि बुद्धिमान रसोइए को पककर तैयार हो जाने के बाद व्यंजनों को दूसरे बर्तनों में डाल कर रखना चाहिए। उसे उसी पात्र में नहीं रखना चाहिए जिसमें वह पकाया गया है। केवल सादा भात ही उसी पात्र मे रह सकता है *'भक्तः स्वपात्रके स्थाप्यो न स्थाप्यः पात्रकान्तरे'* उसे दूसरे पात्र में नहीं उंडेलना चाहिए। घी को लकड़ी या लोहे के पात्र में रखना चाहिए। आमिष और आमिष सूप को सोने, चाँदी, लोहे या लकड़ी के पात्र में रखा जा सकता है। छह प्रकार की सब्जियों– पत्र, कांड, पुष्प, फल, मूल, शिम्बी–को लकड़ी, पत्थर या लोहे के पात्र में रखना चाहिए। उबले/गरम दूध को मिट्टी या काठ के बर्तन में रखना चाहिए। पानी, मीठा दलिया (पानी, दूध, शक्कर या गुड़ से बना) और मक्खन को मिट्टी के बर्तनों में रखना चाहिए।

खाने की थाली या पत्ते

शास्त्रों में सोने,चाँदी, लोहे और काठ की थालियों में खाने का निर्देश है। खानेके लिए पत्तों का भी विधान है। सबसे अधिक प्रयोग में आने वाला पत्ता केले का है, जो भारत के अतिरिक्त एशिया के अन्य भागों में और अफ्रीका में भी लोकप्रिय है। इसे खाना परोसने और यात्रा के लिए खाना बाँधने के लिए अत्यंत स्वच्छ और उपयुक्त माना गया है। दूसरा प्रयोग में आने वाला कमल का पत्ता है जो विशेष रूप से यात्रा के लिए खाना बाँधने के काम आता है। भोजराज की ऋतुचर्या के अनुसार केले के पत्ते पर परोसा और खाया हुआ भोजन हल्का और स्वच्छ होता है। यह कफ

तंदूरी क्या है?

तंदूर या तंदूरी रोटी, जो उत्तर भारत का लोकप्रिय खाद्य है और बहुत-से दक्षिण भारतीयों को भी प्रिय है, भारत में बहुत पुराने जमाने से चला आ रहा है और इसका नाम इसके बनाने की विधि 'तंदूरं' पर रखा गया है जिसका अर्थ जाली पर भूनना है। पकाने की निम्न सात विधियों में से एक तंदूरं है :

१. भर्जनम्	सूखा भूनना
२. तालनम्	सुखाना
३. स्वेदन	भाप से पकाना
४. पाचनं	पानी में पकाना
५. क्वथनं	हल्का उबालना
६. पुटपाकम्	सेंकना

और वात का नियंत्रण करता है और स्वास्थ्य तथा बलदायक है। यह कांतिवर्धक, अग्निवर्धक तथा पित्तशामक भी है। कमल के पत्तों पर परोसा खाना विषाक्तता को भी अच्छा कर देता है।

रघुनाथ सूरि के भोजनकुतूहलम् का कथन है कि केले के पत्ते पर खाने वालों को प्रसन्नता की प्राप्ति होती है। यह क्षुधावर्धक, वाजीकर और शरीर की शक्ति का सुधारक भी है। इससे अग्नि प्रदीप्त होती है, विषाक्तता दूर होती है और जिन्हें वात और रक्त की समस्याएं हैं उनकी समस्याओं का निराकरण होता है। किंतु पांडु रोगियों के लिए यह हितकर नहीं है। अन्य पत्ते, जिनका उपयोग अपेक्षाकृत कम होता है, वे हैं पलाश, बरगद, आक और एरंड के पत्ते। पलाश के पत्ते चावल खाने के काम आते हैं

जो उसके स्वाद को बढ़ाते तथा गुल्म और महोदर में लाभ करते हैं। इससे पीड़ा और पित्त में कमी होती है। बरगद के पत्ते पित्त शमन और घावों को भरने के लिए अच्छे होते हैं। आक के पत्ते पीनस, कृमि और सर्वांग शोथ के लिए हितकर हैं। एरंड के पत्ते वातघ्न हैं और कफ तथा पित्त को बढ़ाते हैं।

उपवास/लंघन

उपवास और लंघन शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं। उपवास के संबंध में अतिप्रसिद्ध कहावत *'लंघनं परमोषधम'* है अर्थात् उपवास से बढ़कर कोई चिकित्सा नहीं है। लंघन क्या करता है? *'शरीर लाघवकरं द्रव्यं कर्म वा'* अर्थात् जो पदार्थ या आचरण शरीर को हल्का करे उसे लंघन कहते हैं। (च.सं. विमान ३१४३)। उपवास से शरीर की धातुएं कम होती हैं और शरीर की शुद्धि भी होती है। (१३)।

लंघन के प्रकार

लंघन के दो प्रकार हैं, शोधन और शमन। चरक इनके विस्तार में जाते हैं और छह प्रकार के शमन और चार प्रकार के शोधन का उल्लेख करते हैं। शोधन के चार प्रकार वमन, विरेचन, नस्य और रक्तमोक्षण हैं।

छह प्रकार के शमन लंघन निम्नवत् हैं :

१. मरुत्सेवन	हवाखोरी
२. आतपसेवन	धूपखोरी
३. पिपासानिग्रह	प्यास का नियंत्रण
४. उपवास	पूर्ण अनशन
५. व्यायाम	वर्जिश
६. पाचन	पचाना

(चरक संहिता सूत्र २/१८)

चरक ने बाद के अध्याय में दीपन (पाचन शक्ति की वृद्धि) को शमन लंघन का सातवाँ प्रकार बताया है (च.सं.सू. १४/५-७)। इस प्रकार उपवास एक प्रकार का लंघन है अतः उसे लंघन का पर्याय माना गया है।

लंघन द्रव्यों के गुण

लंघन द्रव्य लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, विशद, रूक्ष, सूक्ष्म, खर, सर और कठिन होना चाहिए।

लंघन का निर्देश

(क) प्रत्येक प्रकार के ज्वर में, विशेष रूप से आम ज्वर में लंघन करना चाहिए। 'ज्वर को भूखों मारो' एक अच्छी सलाह है क्योंकि ज्वर का कारण अग्नि का अव्यवस्थित होना है। (च.सं.सूत्र ३/१४०)।

(ख) हर प्रकार के अजीर्ण और आम अवस्थाओं में (सुश्रुत सं. चि. ४६/५०५)।

(ग) जब दोष प्रबल न हों तब उपवास रूपी लंघन अग्नि बढ़ाने का काम करता है। (अ.सं.सू. ११/४५)।

(घ) प्रमेह, स्थूलता, ऊरुस्तंभ (वह रोगावस्था, जिसमें पीड़ा के साथ जाँघों में सख्ती आ जाती है), चर्म विकार, शोथ, प्लीहा, सिर, गले और आँखों के रोगों में (अ.हृ.सू. १४/११)।

गर्भवती महिलाओं, अतिकृश और दुर्बल, अतिवृद्धों तथा बालकों को और क्षय तथा पोषण की कमी से उत्पन्न रोगों एवं अपतर्पणज व्याधियों में उपवास नहीं करना चाहिए। (अ.हृ.सू. १४/१२-१५) (१४)

उपवास तीन प्रकार के हो सकते हैं :

१. **निर्जलोपवास**- पानी भी न पीते हुए उपवास करना। गृहस्थों को ऐसा उपवास नहीं करना चाहिए।

२. **जलोपवास-** केवल जल पीते हुए उपवास करना। गर्भवती महिलाओं, रोगियों, और दुर्बल व्यक्तियों के अतिरिक्त हर कोई यह उपवास कर सकता है।

३. **रसोपवास-** इसमें पानी के अतिरिक्त फलों का रस, दूध आदि लिया जा सकता है। यह उपवास वृद्ध, बालक, दुर्बल, बीमार और अत्यंत कृश व्यक्ति भी कर सकते हैं। (१३)

उपवास विधि

उपवास प्रारंभ करने से पूर्व तथा उसकी समाप्ति पर डटकर भोजन नहीं करना चाहिए। यह कहावत ठीक ही है कि *'व्रत की समाप्ति पर दावत नहीं'*(१३)। उपवास की अवधि में दिन में सोना और यौनाचार वर्जित है। जिनका कफ दोष बढ़ा हुआ हो उन्हें उपवास काल में अधिक पानी नहीं पीना चाहिए। उपवास के बाद हल्का, स्निग्ध, मधुर और क्षुधावर्धक खाना खाना चाहिए। उपवास के समय मानसिक और शारीरिक आराम, मित्रों (बुद्धिमान सज्जन हों), चर्या, और अंतरात्मा की एकाग्रता (इससे श्वसन दर कम होती है, जिससे धातु शोधन में सहायता होती है।) पर विशेष ध्यान देना चाहिए। ठंडे पानी से नहाना चाहिए क्योंकि उपवास काल में शरीर का ताप किंचित् बढ़ जाता है। जिनका कफ बढ़ा हो वे गुनगुने पानी से नहा सकते हैं।

उपवास की अवधि

यह रोगी की शक्ति, और रोगावस्था आदि पर निर्भर करती है। उपवास दो प्रकार का होता है, लघु और दीर्घ। लघु उपवास सात दिनों का और दीर्घ उपवास सात से ज्यादा दिन चलता है। दीर्घ उपवास अनुभवी व्यक्तियों की सलाह से ही करना चाहिए।

समुचित उपवास के लाभ

- इंद्रियों की स्पष्टता
- मल-मूत्र विसर्जन

- शरीर का हल्कापन
- स्वाद में सुधार
- भूख, प्यास और मल-मूत्र विसर्जन की समयबद्धता
- शुद्ध डकार
- गले और हृदय की सफाई
- रोगों का नियंत्रण
- उनींदेपन से मुक्ति, सजगता
- उत्साह

(ह.हृ.सू. १४/१६-१७)।

अन्नवर्ग-आहार का वर्गीकरण

अन्न अथवा आहार क्या है? विभिन्न लोगों ने इसे भिन्न संदर्भों में अलग-अलग तरीके से परिभाषित किया है। सुश्रुत ने 'अद्यते इति अन्नम्'(सु.सं. कल्प. ४/३८) अर्थात् खाया जाता है इसलिए अन्न कहते हैं। चरक ने अग्रेय औषधों के वर्णन के प्रसंग में कहा है, "अन्नं वृद्धिकराणां श्रेष्ठम्" अर्थात् वृद्धि के लिए अन्न श्रेष्ठ है। (च.सं.सू. २५/४०)। संसार में सभी जीवधारियों को आहार की आवश्यकता होती है। रूप, स्पष्टता, सुस्वर, दीर्घायुष्य, प्रसन्नता, तृप्ति, पोषण, शक्ति और बुद्धि सभी आहार के अधीन है। व्यावसायिक गतिविधियाँ जिनसे संसार में संतोष प्राप्त होता है, वैदिक कर्मकाण्ड जिनसे स्वर्ग में स्थान मिलता है और सत्य तथा ब्रह्मचर्य जिनसे मोक्ष प्राप्त होता है, सभी आहार के अधीन हैं। (१५)। संक्षेप में इह और पर, दोनों लोकों में उपलब्धि के लिए आहार एक बुनियादी कारण है। (च.सं.सू. २७/३४९-३५१)।

आहार औषध से किस प्रकार भिन्न है?

मानव कल्याण के लिए आहार, औषध और विहार ये तीनों अनिवार्य हैं। चरक का कथन है शरीर से संगत समस्त वस्तु, चाहे वह द्रव्य हो या भाव, औषध है। वास्तव में अन्न और औषध के बीच कोई सीमा रेखा नहीं है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि 'आहार' का पोषणात्मक और 'औषध' का चिकित्सात्मक महत्व है।

प्रायः आहार का पर्याय अन्न पाया जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि 'अन्न' खाद्य होते हैं और 'पान' पेय जबकि आहार शब्द में अन्न और पान दोनों का समावेश हो जाता है। यहाँ हम अन्न को आहार का पर्याय मानकर चलेंगे और खाद्य का वर्गीकरण अन्नवर्ग के रूप में करेंगे।

अन्न के विविध वर्गीकरण

१. स्रोत के आधार पर

(क) स्थावर (निर्जीव)– जैसे कंद, मूल, फूल आदि

(ख) जंगम (सजीव)– मांस, दूध, शहद आदि

स्थावर दो प्रकार का होता है।

(क) भौम (पार्थिव) जैसे अयस्क और खनिज

(ख) औद्भिद् (वानस्पतिक/उगने वाला) समस्त वनस्पतियाँ और वृक्ष। औद्भिद् के चार प्रकार हैं।

(१) वनस्पति (वृक्ष जो फलते हैं मगर फूलते प्रतीत नहीं होते) जैसे– पीपल का पेड़।

(२) वानस्पत्य (जो फलते और फूलते भी है) जैसे– आम का पेड़।

(३) वीरुध (फैलने वाली लताएं) जैसे– चमेली

(४) औषधि (वार्षिक लताएं और बूटियां जो पकने के बाद मर जाती है) जैसे– केले का वृक्ष।

औद्भिद् के दस अंग होते हैं जिनका उपयोग होता है, जैसे जड़, छाल, काँटे, पत्तियाँ, फूल, फल, कलियाँ, गूदा, सार और रस।

२. क्रिया के आधार पर

ये दो प्रकार के होते हैं– हित (सम) और अहित (विषम) अर्थात् लाभकारी और अलाभकारी (च.सं.सूत्र २५/३४)।

हित वह है जो दोषों धातुओं और मलों की साम्यावस्था को बनाये रखता है और यदि उनकी साम्यावस्था न हो तो उन्हें साम्यावस्था में लाता भी है। अहित इसके विपरीत कार्य करता है।

३. पदार्थ के स्वभाव या ग्रहण करने के आधार पर

(क) पान (पीना)

(ख) आहार (खाना)

(ग) भक्ष्य (चबाने लायक)

(घ) लेह्य (चाटने योग्य)

आहारों का विस्तृत वर्गीकरण

राजनिघंटु और धन्वन्तरि निघंटु आदि कुछ अन्य ग्रंथों ने विस्तृत वर्गीकरण करते हुए अनेक और प्रकार गिनाये हैं। "आयुर्वेद महोदधि अन्नपान विधि" में सुषेण ने १६ वर्ग गिनाये हैं जिनमें पानी भी सम्मिलित है:

१. जल वर्ग	पानी
२. क्षीरवर्ग	दूध और उसके उत्पाद
३. दधिवर्ग	दही
४. तक्रवर्ग	मट्ठा
५. घृतवर्ग	घी

६. तैलवर्ग	तेल
७. इक्षुवर्ग	गन्ना और उसके उत्पाद
८. मद्यवर्ग	शराब
९. मूत्रवर्ग	भिन्न-भिन्न पशुओं के मूत्र
१०. धान्यवर्ग	अनाज
११. कृतान्नवर्ग	पकाये हुए खाद्य
१२. फलवर्ग	फल
१३. शाकवर्ग	सब्जियाँ
१४. शिखरिणी वर्ग	दही से बने पदार्थ
१५. व्यंजन वर्ग	भाँति-भाँति के व्यंजन
१६. मांसवर्ग	मांस

तैल वर्ग

तैल शब्द से सामान्य रूप से समस्त तैलों का और विशेष रूप से तिल के तेल का बोध होता है। इस वर्ग में तिल, नारियल, एरंड, सरसों, सूरजमुखी, नीम, करंज आदि तेल आते हैं। वसा, मज्जा और मेदा आदि अन्य चिकनाईदार पदार्थ भी इस वर्ग में सम्मिलित हैं। सुषेण ने मधु को भी इस वर्ग में रखा है। प्रत्येक तेल का गुण उसके मूल तत्व पर निर्भर करेगा। तिल का तेल सभी तेलों में श्रेष्ठ है। सभी तेलों में वातहरत्व और उष्णत्व का सामान्य गुण पाया जाता है। ये स्थिरता की वृद्धि करते हैं, त्वचा, आंखों की ज्योति और बल के लिए ये लाभकर हैं, और वात का नियंत्रण करते हैं फिर भी कफ को नहीं बढ़ाते।

इक्षुवर्ग

इसमें गन्ना, गन्ने का रस और उससे निर्मित पदार्थ आते हैं। गन्ने के अन्य पदार्थ हैं फाणित (राब), गुड़, शक्कर, खंड (मिसरी) आदि। गन्ने के गुण इस प्रकार हैं : स्वाद और विपाक में मधुर, शीतवीर्य, स्निग्ध, गुरु, कफकर, पित्तहर, वृष्य, बल्य, कृमिवर्धक और रक्तपित्त का प्रतिविष (सुश्रुत संहिता सूत्र ४५/१४८)। इस वर्ग के अन्य पदार्थों में भी ये सामान्य गुण पाये जाते हैं। साथ ही उनके अपने अन्य गुण भी होते हैं। इक्षु क यद्यपि बल्य है तथापि इसका अतिसेवन नहीं करना चाहिए क्योंकि यह स्निग्ध, गुरु और कृमिवृद्धि को प्रोत्साहित करने वाला है।

मद्यवर्ग

इस वर्ग में सभी प्रकार के मादक द्रव्य में आते हैं। उनके निर्माण की मूलवस्तु के आधार पर इन्हें १४ प्रकारों में विभाजित किया गया है। जैसेः- सुरा (अनाज और आटे से निर्मित), वारुणी (ताड़ खजूर से निर्मित), अरिष्ट (किण्वित काढ़े से निर्मित) आदि।

सामान्यतः सभी मद्य स्वाद और विपाक में अम्ल तथा वीर्य में उष्ण होते हैं (च.सं.सू. २७/१७८)। वे तीक्ष्ण और व्यवायि भी होते हैं और कृश तथा स्थूल व्यक्तियों और अनिद्रा के रोगियों के लिए उपयुक्त होते हैं। (अ.ह.सू. ५/६२-६४)।

धान्यवर्ग

मोटे तौर पर इनका वर्गीकरण शिम्बीधान्य और शूकधान्य में किया जाता है। शूकधान्य में विविध अनाज और कण जैसे शालि, व्रीहि (चावल के प्रकार), जौ, गेहूं आदि आते हैं। सभी दाल और चना शिम्बीधान्य में आते हैं। शिम्बी का अर्थ वस्तुतः फल है। शिम्बीधान्यों के सामान्य गुण है :- स्वाद में मधुर और किंचित्

कषाय तथा विपाक में कटु। ये रूक्ष, वातवर्धक और कफ तथा पित्त के शामक, कब्ज करने वाले तथा बहुमूत्रता को कम करते हैं। मूंग और मसूर के अतिरिक्त ये सभी आध्मान (वायुविकार) उत्पन्न करते हैं। (भा.प्र.नि. धान्यवर्ग /३७)

शाकवर्ग

शाक से सब्जियों और उन पौधों से तात्पर्य है जो समूचे ही अथवा अंशतः कच्चे या पकाकर व्यंजन या सलाद के रूप में (मिठाई के रूप में नहीं) खाये जाते हैं। ये छह प्रकार के होते हैं :-

१. पत्र (पत्ते) जैसे साहिजन की पत्तियाँ

२. पुष्प (फूल) जैसे केले का फूल

३. फल (कच्चे या पके) जैसे बैंगन

४. नाल (तना) केले का तना

५. कांड (जड़) जैसे मूली

६. संस्वेदज- काठ, गोबर आदि पर उगने वाले मृतजीवी जैसे कुकुरमुत्ता।

सामान्यतः शाक गुरु, शुष्क, स्राव या मल-मूत्रवर्धक, वातविकार करने वाले, शक्ति, रूप, पौरुष और आंखों की ज्योति के लिए अलाभकर और अस्थि एवं रक्त के लिए हानिकारक होते हैं। अतः परवल, बथुआ, मकोय और पुनर्नवा को छोड़कर शेष सभी सब्जियां अल्पमात्रा में खाने योग्य हैं। (भा.प्र.नि. शाकवर्ग/२-४)

फलवर्ग

इसमें वे सभी फल आते हैं जिन्हें बिना आग पर पकाये खाया जाता है। इसमें अंगूर, अनार, बेर, बेल, भल्लातक, नींबू आदि फलों का वर्णन पाया जाता है। यद्यपि इन सबको एक वर्ग में रखा गया है परंतु उनमें सर्वनिष्ठ गुण नहीं पाये जाते। प्रत्येक

फल में विशिष्ट गुण और कर्म पाया जाता है। एक ही सामान्य गुण पाया जाता है वह यह कि इन्हें पक जाने के बाद बिना आग पर चढ़ाये खा लिया जाता है।

लवणवर्ग

इसमें सुश्रुत के वर्णनानुसार सभी लवण, क्षार, धातु और कीमती पत्थर आते हैं।

लवण के प्रकार

१. सैंधव

२. सामुद्र (समुद्र के जल से निर्मित)

३. विड या बिड (शोरा)

४. सौवर्चल (काला नमक)

५. औद्भिद् (लोनी)

६. रोमक (सांभर नमक)

लवण के सामान्य गुण निम्न हैं :-

स्वाद में नमकीन, विपाक में कटु, वीर्य की दृष्टि से उष्ण, सूक्ष्म, तेज, वातहर, कफ-पित्तकर, शोथ उत्पादक, मूत्र एवं मलवर्धक (अ.हृ. सूत्र ६/१४१)।

मांसवर्ग

मांस के दो मुख्य प्रकार जांगल और आनूप हैं। जांगल मांस जंगल या शुष्क भूमि के जानवरों के मांस को कहते हैं, आनूप मांस दलदली भूमि और जलाशय के प्राणियों के मांस का नाम है। जांगल मांस मधुर और किंचित् कषाय रसवाला, शुष्क, हल्का, अग्निवर्धक समस्त धातुवर्धक विशेष रूप से शुक्रल और वातादिदोषशामक होता है। यह गूंगेपन, हकलाने, चेहरे की फालिज, वमन, अरुचि, फीलपांव की सूजन और वातदोष जन्य रोगों में हितकर है। आनूप मांस मधुर, स्निग्ध, गुरु, चिपचिपा, अभिष्यंदि, अग्निशामक, कफवर्धक, मांसवर्धक और सामान्यतः पथ्य होता है।

टिप्पणी :-

जलवर्ग, क्षीरवर्ग, दधिवर्ग, तक्रवर्ग, घृतवर्ग और मधुवर्ग का वर्णन इस पुस्तक के विविध अध्यायों में किया गया है। मूत्रवर्ग का विस्तृत वर्णन इसलिए नहीं किया जा रहा है कि इसका आहार और पोषण की दृष्टि से कोई महत्व नहीं है।

मुख स्वास्थ्य विज्ञान

मुख स्वास्थ्य विज्ञान का विषय उत्तम स्वास्थ्य के लिए पोषाहार के बराबर महत्व का है। आयुर्वेदीय एवं इतर विद्याओं के आचार्यों भोजराज और वराहमिहिर आदि ने भी इसका विस्तृत वर्णन किया है। चिकित्सा एवं पाकशास्त्र विषयक सभी ग्रंथों में मुख एवं दंत स्वास्थ्य विज्ञान पर पर्याप्त सामग्री पायी जाती है। इसके अंतर्गत मुख प्रक्षालन दाँत साफ करना, दंतधावन (मुंह धोना) और जिह्वा निर्लेखन (जीभ साफ करना) की प्रक्रियाओं का वर्णन है। मुख प्रक्षालन का अर्थ मुंह धोना और आचमन का मुंह खंगालना है। कहा गया है किसी भी अपवित्र वस्तु जैसे मनुष्य अथवा इतर जीवों के मलमूत्र, रक्त, मांस, शव आदि का स्पर्श करने के बाद मुख प्रक्षालन, गंडूष (कुल्ला) और आचमन करना चाहिए। ये कार्य सोने और भोजन करने के पहले और बाद तथा छींकने आदि पर भी करने चाहिए। मुख धोने का कार्य पूर्ण मनोयोग के साथ करना चाहिए। साथ ही सही आसन में और ऐसे पानी से करना चाहिए जो नुनखरा न हो। आचमन करने से पहले हाथ-पाँव धो लेने चाहिएं। मुंह धोने से मुख विवर साफ हो जाता है लेकिन दाँत एवं जीभ साफ करने के लिए दंत धावन एवं जिह्वा निर्लेखन बताया गया है।

नीम, बबूल, अर्क, खदिर, करंज, अपामार्ग आदि दातून (टूथब्रश) के रूप में प्रयोग करने चाहिए। कोई भी ऐसी टहनी या जड़ जो कषाय, कटु और तिक्त रस की हो, दातून का काम कर सकती है। लेकिन यह आवश्यक है कि जिस वनस्पति या वृक्ष

से दातून बनाया जाय, वह परिचित हो। अपरिचित वनस्पति या वृक्ष का दातून लेने में खतरा हो सकता है। दातून की लंबाई १२ अंगुल और मोटाई कनीनिका उंगली से अधिक न होनी चाहिए। दंतधावन एक बार सबेरे और प्रत्येक भोजन के बाद करना चाहिए। दंतधावन के समय बोलना नहीं चाहिए और क्रिया धीरे-धीरे करनी चाहिए जिससे मसूड़ों की क्षति न हो। दाँतों की घिसाई के लिए त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) चूर्ण, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली) चूर्ण अथवा त्रिजात (छोटी इलायची, दालचीनी और तज) चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए। इस चूर्ण को दंतधावन चूर्ण या दंतमंजन चूर्ण कहते हैं।

दातूनों के विभिन्न रसों के उपयोग

कषाय रस मसूड़ों की दृढ़ता और दाँतों की जड़ों की मजबूती सुनिश्चित करता है। तिक्त रस, क्रिमिनाशक है अर्थात् वह जीवों की वृद्धि को नियंत्रित करता है। कटु रस लालानिर्माण (लार बनाना) बढ़ाता है जिससे अवांछनीय तरल बाहर हो जाते हैं। दंतधावन के लिए मधुर रस का प्रयोग प्रायः नहीं किया जाता क्योंकि यह जीवों की वृद्धि के लिए अनुकूल होता है। लेकिन सुश्रुत ने (सु.सं.चि. २४/६) मधुर रस का भी निर्देश किया है जो मुख पाक (मुंह की सूजन-मुंहा) की स्थिति में उत्तम है, जिसमें कटु रस वर्ज्य है। दंतधावन से दुर्गन्ध और चिपचिपापन दूर होता है, कफ (दूषित या अतिरिक्त) निकल जाता है और मुख स्वच्छ हो जाता है। यह भूख, स्वाद और मानसिक प्रसन्नता को बढ़ाता भी है।

जिह्वा निर्लेखन (जीभ की घिसाई-सफाई)

दाँत साफ करने के बाद सोने, चाँदी या काठ के बनी जीभी से जीभ को धीरे-धीरे रगड़ना चाहिए। यह जीभी दस अंगुल लंबी और चिकनी होनी चाहिए। (खुरदरी या विषम नहीं)। इससे जीभ की अरुचि और दुर्गंध दूर होती है और मन को प्रसन्नता होती है। (सु.सं. चि. २४//१३,१४)

गंडूष/कवल

पानी या तेल को मुंह में भरकर स्थिर रखना गंडूष है। इसके लिए सादा तिल तेल को प्रयोग किया जा सकता है। कवल गरारा करना है जिसमें मुखस्थ तरल को तेजी से चलाया जाता है। लोध्र (सिंप्लोकस रेसमोसा) आँवला अथवा पाँच क्षीरी वृक्षों (वट, प्लक्ष, न्यग्रोध, उदुंबर और पारीष) के कषाय से कवल करते हैं। गंडूष और कवल मुंह का सूखापन, दाँतों के विकार, स्वरभंग, अपच, दुर्गंध और अतिलालास्राव दूर करते हैं। मुख स्वास्थ्य के लिए आचार्यों ने धूमपान का भी निर्देश दिया है।

बृहत्संहिता आदि ग्रंथों में भी दातून की चर्चा है। वराहमिहिर ने दंतकाष्ठलक्षणम् के अंतर्गत दातून की लकड़ी और उनके प्रभावों (चिकित्सीय एवं गूढ़) का वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि ऐसी लकड़ी का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिनका प्रयोग पहले कभी नहीं किया गया, जिसमें पत्तियाँ लगी हों अथवा सिरे पर मुरझाई हो या जिसकी छाल छिल गयी हो या जिसमें विषम संख्या में गाँठें हों या जो फटी हों (अध्याय ८५, श्लोक २)।

निष्कर्ष

पिछले अध्यायों में हमने आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से आहार और पोषण के सिद्धांतों की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। जैसा कि प्रस्तावना में हमने कहा है, इससे पाठक को आहार और पोषण के क्षेत्र की लोक स्वास्थ्य परंपराओं में निहित तर्काधारों को समझने का आधार प्राप्त होगा।

स्पष्ट है कि आहार और पोषण के विविध पहलुओं को समझने के लिए इन परम्पराओं में एक व्यापक सैद्धांतिक ढाँचा मौजूद है। विविध खाद्यों की प्रकृति और गुण का मूल्यांकन करने के लिए एक विस्तृत और सुविकसित विधि भी इनमें उपलब्ध है। साथ ही इन परम्पराओं में आहार और पाचन पर मौसमों तथा व्यक्तिगत शरीर गठन के प्रभावों पर पर्याप्त जानकारी उपलब्ध है।

विशेष आकर्षण

पोषण के आयुर्वेदीय विज्ञान में कुछ अनोखी विशेषताएं हैं, अर्थात् भारतीय चिकित्सा पद्धतियों के अंतर्गत ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जिनकी जानकारी पाश्चात्य पोषण विज्ञान में न के बराबर है। ऐसे चंद क्षेत्र हैं :

(क) विरुद्धाहार या बेमेल खाद्य

(ख) पाकशास्त्र या पाक विद्या की सुविकसित कला और विज्ञान

(ग) ऋतुचर्या या मौसमी परिवर्तनों का आहार पर प्रभावों का समुचित ज्ञान

(घ) प्रकृति या व्यक्तिगत शरीर गठन पर आधारित परिवर्तन

(ङ) पथ्यापथ्य या विविध अवस्थाओं में निर्दिष्ट एवं निषिद्ध आहार

(च) उपवास या लंघन आदि।

उपर्युक्त तथा ऐसे अनेक क्षेत्रों में हम अपनी भा.चि. पद्धतियों से बहुत कुछ सीख सकते हैं।

वर्तमान प्रासंगिकता

पोषण के क्षेत्र तथा सामुदायिक स्वास्थ्य योजनाओं में संलग्न बहुसंख्यक वैज्ञानिकों एवं अनुसंधानकर्ताओं को हमारी जनता में विद्यमान इस क्षेत्र की समृद्ध विरासत के प्रति कोई सजगता नहीं है। दिसंबर १९८६ में लोक स्वास्थ्य परंपरा संवर्धन समिति ने कालाडि में "पोषण के आयुर्वेदीय विज्ञान" विषय पर एक सप्ताहीय कार्यशाला का आयोजन किया था। इसमें आयुर्वेद के आचार्यों ने सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं ऐलोपैथिक डाक्टरों, पोषाहारशास्त्रियों और जीववैज्ञानिकों के समक्ष इस विषय के विविध पहलुओं पर विचार प्रस्तुत किये थे।

इस बैठक में संपन्न परस्पर चर्चा से यह बात स्पष्ट हुई कि भा.चि. पद्धतियों से ऐसा बहुत कुछ सीखा जा सकता है जो न केवल सामुदायिक स्वास्थ्य कार्य के लिए प्रासंगिक होगा, अपितु आधुनिक चिकित्सा और पोषाहार विज्ञान के लिए भी उपादेय होगा। बैठक ने इस तथ्य को भी रेखांकित किया कि आयुर्वेदीय पोषण विज्ञान केवल नुस्खों का संग्रह मात्र नहीं है अपितु यह एक यथार्थ, सटीक और व्यापक कार्य प्रणाली भी है जिससे किसी भी पदार्थ का परीक्षण किया जा सकता है।

नवीन पदार्थ

किसी भी नवीन पदार्थ (अर्थात जो पदार्थ हाल का हो और हमारे प्राचीन निघंटुकार आचार्यों द्वारा वर्णित न हो) का विश्लेषण करके उसके आहार मान अथवा चिकित्सीय गुणों का मूल्यांकन पंचमहाभूत सिद्धांत के आधार पर किया जा सकता है।

यहाँ हम एक ऐसे ही खाद्य पदार्थ 'कस्टर्ड' का बंबई के वैद्य रमेश नानल द्वारा किया हुआ विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ पर आयुर्वेदीय महासम्मेलन पत्रिका (१६) में मूलतः प्रकाशित शोध पत्र का अनूदित सारांश प्रस्तुत हैं।

आयुर्वेदिक दृष्टिकोण से कस्टर्ड के गुणों और क्रियाओं का मूल्यांकन

पदार्थों के मूल्यांकन और आयुर्वेदीय द्रव्यगुण शास्त्र के आधार पर उनके गुण तथा कर्म, उपयोग की विधि, और निषेध की स्थिति का ज्ञान आजकल दुर्लभ हो गया है। इस कारण हम देखते हैं कि आज कल जो नयी चीजें उपयोग में आ रही हैं उनमें से कुछ पर प्रकाश डाल सकने वाले निघंटुओं का आज अभाव है। हमें यदि आज दैनंदिन उपयोग में आने वाले पदार्थों के गुण-कर्मादि का ज्ञान न हो तो निदान, चिकित्सा और पथ्यापथ्य का निर्णय करना कठिन हो जायगा। यदि उपर्युक्त कामों में त्रुटियां हुई तो उनसे वैद्य की योग्यता और संपूर्ण वैद्यकीय व्यवसाय पर ही प्रश्नचिन्ह लग सकता है।

यहाँ मैं कस्टर्ड का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अपने विचार प्रस्तुत करना चाहूंगा कि हम किस प्रकार आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से नये खाद्य पदार्थों का मूल्यांकन कर सकते हैं।

पदार्थः-कस्टर्ड एक ऐसा पदार्थ है, जिसका उद्भव पाश्चात्य पाक कर्म में हुआ है। इसे प्रायः भोजन के बाद मिष्टान्न रूप में लेते हैं और सेवन करने से पूर्व इसको ठंडा कर लेते हैं। (लेकिन गरम पुडिंग के साथ चटनी की तरह लेते समय ठंडा नहीं करते।)

घटकः-भैंस का दूध २ हिस्सा

मक्के/धान्य का आटा एक हिस्सा

शक्कर एक हिस्सा

निर्माण विधि:-उपर्युक्त चीजों को भलीभांति फेंटकर मिला लेते हैं और एक भाग पानी के साथ आग पर तब तक पकाते हैं जब तक कि सारा पानी उड़ न जाय और तब फ्रिज में रखकर ठंडा करते हैं।

पंचेन्द्रियों द्वारा परीक्षण

देखने में- पीला, गीला और चिपचिपा

स्वाद में- मीठा

सूंघने में- सुखद

बनावट में- स्निग्ध, ठंडा, चिपचिपा, भारी, मुलायम

उपर्युक्त गुणों के आधार पर पांचभौतिक अवयवों पर ध्यान देने से रस, गुण, वीर्य और विपाक तथा दोषों पर इसके प्रभाव को कोई समझ सकता है। निम्न सारणी से यह बात स्पष्ट होगी।

गुण	पृथ्वी	जल	तेज	वायु	आकाश
स्निग्ध		x			
गुरु	x	x			
मृदु		x			x
शीत		x			
पिच्छिल		x			

(अर्थात् स्निग्धता जल महाभूत की उपस्थिति का और गुरुत्व पृथ्वी और जल की उपस्थिति का संकेत करता है।)

अब हम इसके गुणों को निश्चित कर सकते हैं।

रस - मधुर

वीर्य - शीत, और

विपाक - मधुर

दोषों पर क्रिया:–वातनाशक (मधुर रस के कारण)

पित्तनाशक (मधुर रस और शीतवीर्य होने के कारण)

कफवर्धक (गुण और स्वाद में समानता के कारण)

धातुओं पर क्रिया:–रस धातु में वृद्धि (गुण समानता के कारण)

रक्त का शोधन (मधुर रस के कारण)

मांस वर्धन (मधुर और गुरु होने से)

मेद वर्धन (जल एवं पृथ्वी प्रधान होने से)

शुक्रवर्धन (मधुर, स्निग्ध और सुगंधित होने से)

उपधातु पर क्रिया:–रसवर्धक होने से रजस् और स्तन्य (मासिक स्राव और उरोजों में दूध) बढ़ाता है।

मलों पर क्रिया:–मृदु विरेचक (श्रेष्ठ मलकर) मधुर होने से।

मूत्रवर्धक (श्रेष्ठ मूत्रल) मधुर होने से।

अन्य महत्वपूर्ण उपयोग:

अभिष्यन्दि– क्योंकि यह चिपचिपा, भारी और रसात्मक है।

रक्तप्रसादन– क्योंकि यह मधुर और शीतवीर्य है।

उपलेपकर– क्योंकि यह चिपचिपा और मृदु है।

रोगों पर क्रिया

- उष्ण–तीक्ष्ण लक्षणों में और अम्लपित्त के कारण उत्पन्न दाह जैसे लक्षणों में लाभकारी।
- चिपचिपा, मृदु और ठंडा होने से मुंह (स्टोमैटाइटिस) में धीरे–धीरे चुस्कियाँ लेने से तात्कालिक राहत देगा।
- वातज, पित्तज और वातपित्तज तृष्णा रोग का नियंत्रक किंतु आमज तृष्णा में गुरु होने के कारण निषिद्ध।

पूर्व-पाठशाला पूरक आहार के पोषण मान का मूल्यांकन

हम तमिलनाडु सरकार द्वारा संचालित आँगनवाड़ी कार्यक्रम के अंतर्गत वितरित होने वाले आहार का विश्लेषण आयुर्वेदीय पद्धति से आहार और उनके पोषण मान को देखने के प्रयास के अंग के रूप में कर सकते हैं। नीचे की सारणी में तमिलनाडु की पाठशालाओं में उपयोग में आ रहे पूर्व-पाठशाला पूरक आहार के पोषण मान का आकलन, पूरक खाद्य के घटक दिये गये हैं।

मद संख्या	खाद्य वस्तु	भार(ग्राम)	प्रतिशत
१.	अन्न गेहूं (भुना और पिसा)	४८	६०
२.	दाल चना फूला, भुना और पिसा	१२	१५
३.	गुड़ (शक्कर)	२०	२५
	योग	८०	१००

- कृश एवं क्षीण के लिए आहार के रूप में उपयोगी, लेकिन ध्यान रहे कि यह गुरु और अभिष्यन्दि है अतः इसे रात में न लें और प्रतिदिन न लें।

१. गेहूं के गुण हैं, वृष्य, शीत और गुरु (अ.सं.सू. ७/२२), परंतु चूंकि इस खाद्य में गेहूं भुना होता है, अतः यह इन तीन गुणों से भरपूर नहीं होता। उसकी स्निग्धता और गुरुता कुछ घट जाती है और यह किंचित् वातल हो जाता है मगर फिर भी यह जीवनीय, वृष्य और स्थिरता देने वाला तो रहता ही है।

२. चना '*शीतलो रूक्षो.....कुष्ठनाशनः* (सर्वौषधिगुणकल्पम)' है। यह पहले ही रूक्ष होता है ऊपर से भुना होने से और भी रूक्ष हो जाता है। इसका रस कषाय है इसलिए कब्ज करेगा। अतः अधिक नहीं देना चाहिए। इसका प्रतिशत अधिक न होने से चल सकता है।

३. गुड़- साफ किया हुआ और पुराना ही होना चाहिए। धौतगुड़ को *'नातिश्लेष्म करो.....मांसकफोपहरः'* कहा गया है और पुराने गुड़ को *'हृद्यपुराण पथ्यश्च'* कहा गया है। नया गुड़ किसी हालत में नहीं देना चाहिए क्योंकि वह *'श्लेष्माग्निसादकृत्'* होता है। (अ.सं.सू. ६/८७)।

टिप्पणी

इस पोषाहार में चने का कब्ज करने वाला दोष गुड़ से दब जाता है। तीनों द्रव्य शीतवीर्य हैं अतः बृंहण के लिए उपयोगी हैं। गुणों के अनुसार यह आहार वर्षा ऋतु के अतिरिक्त जिसमें अग्नि क्षीण होती है सभी ऋतुओं में दिया जा सकता है। हेमंत में अग्नि तीक्ष्ण होने पर मात्रा बढ़ायी जा सकती है। पूर्व-पाठशालाओं में वितरित किये जा रहे पूरक पोषाहार के पोषण मान का आकलन करने का प्रयास आयुर्वेदीय दृष्टि से किया गया है (१७)।

कब्ज की शिकायत में भोजन से पहले (अपानकाल) या दो भोजन के बीच (समान काल) में लेना चाहिए।

- वात के कारण उदर विकार के रोगियों को गरम कस्टर्ड देना चाहिए फ्रिज का ठंडा किया नहीं।

- अत्यंत कृश व्यक्तियों के बृंहण के लिए उपयोगी
- वात और पित्त प्रकृति के लोगों के लिए उपयोगी
- शुष्क क्षेत्रों में (जांगल देश) उपयोगी
- हेमंत, शिशिर और ग्रीष्म ऋतुओं में सेवनीय।

इसी मनोदशा में वैद्य इसके अन्य उपयोगों की परिकल्पना कर सकता है।

निषेध :

निम्न स्थितियों में कस्टर्ड निषिद्ध है :-

प्रतिश्याय, कफप्रधान श्वास और कास, मंदाग्नि, प्रवाहिका, अतिसार, ग्रहणी, हृद्रोग, कफजशोथ, मेदोरोग, मूत्राघात, धमनी प्रतिचय।

इसी प्रकार वैद्य कस्टर्ड निषेधक अन्य अवस्थाओं का निर्णय उसके गुणों और क्रियाओं के आधार पर कर सकते हैं, जैसे आनूप देशों में, सुरापान के समय और फलों के साथ। (यह निषिद्ध है)

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से किसी भी नवीन पदार्थ का परीक्षण संभव है।

– वैद्य रमेश म. नानल

यह आज के संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक है क्योंकि सूरजमुखी तेल, पाश्चुरीकरण आदि अनेक नये द्रव्य और प्रक्रियाएँ जिनका पहले व्यापक उपयोग नहीं होता था आज अत्यंत लोकप्रिय हैं।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि आहार एवं पोषण से संबद्ध अत्यंत समृद्ध विविध और व्यापक लोक स्वास्थ्य परंपराएं आज भी अस्तित्व में हैं। आयुर्वेद से एक ऐसा परिपूर्ण सैद्धांतिक आधार प्राप्त होता है जिससे उनके तर्काधार बोधगम्य हो जाते हैं। यह सैद्धांतिक और परिकल्पनात्मक ढाँचा दोषरहित और परिपूर्ण है और

न केवल वर्तमान प्रथाओं को समझने में सहायक होता है बल्कि नये पदार्थों और प्रथाओं का भी आकलन कर सकता है। यह पूर्व–पाठशालापूरक पोषाहार योजना आदि पोषण क्षेत्र की विविध सार्वजनिक स्वास्थ्य योजनाओं के लिए दिशा–निर्देश भी दे सकता है। भा.चि. पद्धतियों के अभ्यासियों को ऐसी योजनाओं में सम्मिलित होना चाहिए ताकि ऐसी अच्छी योजनाओं का विकास हो सके जिससे स्थानीय संसाधनों का सर्वोत्तम उपयोग होकर लोक स्वास्थ्य परंपराओं का अधिकाधिक लाभ समाज को प्राप्त हो सके।

प्राविधिक शब्द संग्रह

प्रारंभ में ही यहाँ बता देना उचित होगा कि नीचे दी गयी परिभाषाएं लगभग और परिचायक हैं। जैसा कि हम पहले इंगित कर चुके हैं, हमने परिभाषिक शब्दों का प्रयोग यथावत् किया है, अतः उनके स्थूल अनुवाद यहाँ प्रस्तुत हैं।

आग्नेय	अग्नि संबंधी
आहार	खाद्य
आहारविधि	खाने का तरीका
आकाश	पंचमहाभूतों में से एक–आकाश
आम	अपूर्ण पाचन का उत्पाद
आमाशय	पेट
आसव	ठंडे फांट से निर्मित एक मादक पेय
आत्मा	रूह
अभिष्यदि	स्रोतसों में स्राव बढ़ाकर, स्रोतसों का अवरोधा करने वाला
अभ्यंग	मालिश
अग्नि	पंचमहाभूतों में से एक आग (पाचक)
अग्निप्रदीपन	पाचक शक्ति बढ़ाने वाला
अंबु	पानी
अम्ल	खट्टा
अप	पंचमहाभूतों में से एक

अपथ्य	अस्वास्थ्यजनक
अर्श	बवासीर
असात्म्य	अस्वास्थ्यजनक
अतिमात्रा	बढ़ी हुई तायदाद
अतिसार	डायरिया, दस्त
अवस्थापाक	पाचन की अवस्था
बल्य	बलदायक
भाजन	पात्र
भगंदर	फिस्चुला, नासूर
भक्ष्य	चबाने योग्य
भस्मक	एक असामान्य अवस्था जिसमें पाचन शक्ति अत्यंत बढ़ी रहती है।
भूत	बुनियादी तत्व
बृंहण	स्थूलता बढ़ाने वाला
चोष्य	चूसने योग्य
देश	स्थान
धारणीय	सहारा देने वाला
धातु शरीर	निर्माण की सात सामग्री (ऊतक) अर्थात् रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र
धात्वग्नि	प्रत्येक धातु में विद्यमान सूक्ष्म अग्नि जो अगली धातु के निर्माण में सहायक होती है।
दोष	देह द्रव
धौत	धुला हुआ

द्रव्य	पदार्थ
दृश्य भूत	आधारभूत तत्वों का स्थूल रूप
ज्ञानेन्द्रिय	संवेदी अंग
ग्रहणी	ड्युओडेनम/डयूओडेनम की विकृत क्रिया
ग्रीष्म	गर्मी का मौसम
गुल्म	पेट का पिंडक
गुण	विशेषता
गुरु	पचने में भारी
हीनमात्रा	कम तायदाद
हेमंत	सर्दी का पूर्वार्द्ध
हृद्य	हृदय के लिए बलदायक
जठराग्नि	पाचक अग्नि
ज्वर	बुखार
ज्वरहर	बुखार दूर करने वाला
काल	समय
कफकर	कफ बढ़ाने वाला
कर्मेन्द्रिय	क्रिया करने वाले अंग
कषाय	कसैला
कटु	कड़ुआ
खर	खुरदरा
कोष्ठ	पाचन मार्ग
क्रिमि	परजीवी

क्रिमिघ्न	क्रिमिनाशक
क्षार	ऐल्कली
कुष्ठ	चर्म विकार
लघु	पचने में हल्का
लंघन	स्थूलता कम करने वाला
लवण	नमक
लेह्य	चाटने योग्य
लेपन	लगाना
मांस	पेशी ऊतक
मात्रा	परिमाण
महाभूत	पांच बुनियादी तत्व
मल	कचरा
मंद	धीमा/भोथरा
मंदाग्नि	पाचन शक्ति की कमी
मंदक	ठीक से न जमा दही
मौन	शांति
मृदु	नरम
ओजस	सभी धातुओं का सार
पाक	पाचन/पकाना
पंचमहाभूत	पाँच आधारभूत तत्व
पथ्य	स्वास्थ्यकर
पेया	एक प्रकार की दलिया

पेयादिकर्म	आहार के घनत्व को धीरे–धीरे बढ़ाना
प्राण	जीवन
प्रभाव	विशेष शक्तिमत्ता
प्रमाथि	स्रोतसों को साफ करने वाला
प्रपाक	पाचन की प्रक्रिया में परिवर्तन की प्रथम अवस्था
पृथ्वी	पंचमहाभूतों में से एक, मिट्टी/धरती
पुराण	पुराना
राशि	ढेर
रक्तधातु	खून
रक्तपित्त	रक्तस्राव प्रधान व्याधि
रस	स्वाद
रसधातु	पाचन का पहला उत्पाद
ऋतु	मौसम
रूक्ष	रूखा
सार	अर्क
सात्म्य	स्वास्थ्यकर
समाग्नि	सामान्य अग्नि
सप्तधातु	सात धातुएं
सत्तू	भुने हुए अन्न/दाल का चूर्ण
शालि	एक प्रकार का चावल
शरद	पतझड़
शीत	ठंडा

शिशिर	सर्दी का उत्तरार्ध
शोधन	सफाई करने वाला
शुक्र	धातु वीर्य
श्लक्ष्ण	चिकना
स्नेहन	चिकनाई देना
स्निग्ध	चिकना
स्रोतस	मार्ग
स्तंभन	अवातानुलोमक/कषाय
स्वभाव	प्रकृति
स्वेदन	सेंकना
तन्मात्रा	पंचमहाभूतों के सूक्ष्म रूप
तर्कसंग्रह	वैशेषिक दर्शन का एक ग्रंथ
तीक्ष्णाग्नि	पाचन शक्ति की बढ़ी हुई स्थिति
तेजस	अग्नि तत्व
तिक्त	तीता
तोय	पानी
त्रिदोष	वात, पित्त और कफ
त्रिदोष सिद्धांत	वात, पित्त और कफ का सिद्धांत
त्वक्	चर्म
उपवास	अनशन
वातघ्न	वातनाशक
वायु	पंचमहाभूतों में एक

वैश्वानर	अग्नि (पाचक)
वमन	उल्टी, कै
वर्षा	बरसात का मौसम
बस्ति/वस्ति	एनीमा
वीर्य	तासीर
वेग	प्रवृत्ति, दौरा
वसंत	बहार
विहार	चर्या
विलेपी	चावल और मूंग से निर्मित खाद्य
विपाक	खाये हुए खाद्य की पाचन के पश्चात् परिवर्तित अवस्था
विरेचन	दोष विमोचन
विरुद्ध	बेमेल
विसर्प	एक प्रकार का चर्म रोग, दाद
विषमाग्नि	विकृत पाचन शक्ति
विष्टब्ध	वातकारी
विषूचिका	चुभन के साथ होने वाला पाचन विकार
वृद्धि	बढ़ती
वृष्य	वाजीकर
व्याधि	रोग
व्यवायि/विकाशि	अत्यंत शीघ्रता से सारे शरीर में फैलने वाली

रस

चिकित्सीय उपयोग

मधुर : सामान्य कमजोरी, बुढ़ापे के लक्षण, शुक्राल्पता, वात और पित्त के विकार, गर्भपात की प्रवृत्ति, उरोज दुग्ध की कमी में।

अम्ल : भूख न लगना, मंदाग्नि, वात रोग।

लवण : भूख न लगना, मंदाग्नि, खाँसी (बलग़मी), मूत्रअल्पता वात विकार।

कटु : भूख न लगना, मंदाग्नि, क्रिमि, जठर शोथ, कामला, चर्म रोग, ज्वर, स्थूलता, मधुमेह, स्रावों का यथा मवाद का अतिरेक।

कषाय : अतिसार, रक्तस्राव, व्रण, बहुमूत्रता, श्वास विकार

निषेध

जिन दोषों को रस उभारते हैं तदनुसार वे रोगों में निषिद्ध होते हैं।

मधुर : कफजन्य रोगों खाँसी, दमा, मधुमेह, फीलपाँव, गलगंड आदि।

अम्ल : पित्त और रक्त के विकार जैसे जठरशोथ, आंतरिक रक्तस्राव, कामला आदि।

लवण : पित्त और रक्त के रोग, चर्म रोग, शोथ, जलोदर, अतिरक्तचाप, रक्तस्राव, जठरशोथ आदि।

कटु : उपर्युक्त एवं शुक्रदोष, मूत्रावरोध।

तिक्त : वातविकार, शुक्रदोष।

कषाय : सर्वांग दुर्बलता, भूख न लगना, वात विकार।

अति सेवन से रोग :-

रसों का अतिसेवन रोग कारक हो सकता है। ऐसा वे सदृश दोषों को उभारकर करते हैं, जैसे-

मधुर : मोटापा, अवसाद, असामान्य वृद्धियाँ, खाँसी, दमा, सर्दी, पाचन के विकार, वमन, शीत ज्वर, स्वरभंग, गलगंड, लसीकावाहिनी शोथ, अर्बुद, फीलपाँव, नेत्रश्लेष्मला शोथ आदि।

अम्ल : प्यास, पित्त की अधिकता से होने वाले विकार, रक्त विकार, पेशी शैथिल्य, जलोदर, शोथ एवं जलन।

लवण : पित्त एवं रक्त के उभार से होने वाले विकार, प्यास, मूर्च्छा, ज्वर, क्षरण, ऊतक क्षय, चर्म रोग, जलोदर, दाँत गिरना, नपुंसकता, इंद्रियों की क्षति, पालित्य, बाल झड़ना, जठरशोथ, दाद, पामा।

कटु : मूर्च्छा, नपुंसकता, निष्क्रियता, दुर्बलता, क्षय, चक्कर, जलन, प्यास, कंपन, तंत्रिका शूल आदि।

तिक्त : क्षय, स्रोतसों में रूक्षता, क्षीणता, अवसाद, मूर्च्छा, चक्कर, मुंह का सूखापन।

कषाय : मुंह का सूखापन, हृदय वेदना, कर्णपटहशोथ, स्वरभग, कब्ज, नपुंसकता, नीलिमा, अपानवायु मूत्र, मल और शुक्र का अवरोध, कमजोरी, क्षय, स्तब्धता, पक्षाघात आदि।

निघंटु और गुण

क. निघंटु

निघंटुओं के रूप में हमें द्रव्यगुण संबंधी ज्ञान का समृद्ध भंडार उपलब्ध है। निघंटु शब्द का वास्तविक अर्थ शब्द कोष या शब्द संग्रह है। प्राचीनतम विद्यमान स्रोत ऋग्वेद में अनेक औषधों की चर्चा है जो आयुर्वेद के प्राचीनतम औषधि भंडार हैं। अथर्ववेद में ऋग्वेद से अधिक औषधियों का वर्णन है। क्योंकि वे कालयापन के साथ-साथ जुड़ते गये हैं।

प्रारंभ में निघंटुओं में समानार्थक शब्द मात्र होते थे जिनमें शब्दों के अर्थ निहित होते थे। यह विचार संप्रेषण का प्राचीनकालीन तरीका था। आयुर्वेदीय निघंटुओं ने भी इसी पद्धति का अवलंबन किया और द्रव्यों का वर्णन पर्यायों के माध्यम से किया। उत्तरवर्ती काल में उनके गुण और क्रियाएं जोड़ी गयीं और निघंटु नये रूप में प्रस्तुत होने लगे जिसमें गुण और पर्याय साथ-साथ आने लगे। उदाहरण के लिए धन्वन्तरि निघंटु (द्रव्यावली) के मूल रूप में केवल पर्याय थे, बाद में गुण और क्रियाएं जोड़ी गयीं।

किसी अवस्था में प्राचीन संहिताओं के अंत में निघंटु जोड़ने की परंपरा चल निकली और संभव है वह संहिताओं का ही एक भाग रही हों और ऐसी स्थिति में वह मूल लेखक का ही अवदान हो। किंतु चरकसंहिता और सुश्रुत संहिता में औषधियों के गुण और क्रियाओं के विवरण प्रस्तुत करने वाला अलग से कोई खंड नहीं है, यद्यपि ऐसी सामग्री संपूर्ण ग्रंथ में सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं। बृहत्त्रयी में वाग्भट्ट केअष्टांग संग्रह ग्रंथ में सूत्रस्थान का एक पूरा अध्याय (बारहवाँ) इस विषय पर है जिसमें वर्गीकृत औषधियों के वर्णन का प्रारूप विकसित किया गया है। इस परंपरा

का अनुपालन वाग्भट्ट द्वितीय ने भी अष्टांगहृदय (अध्याय ६, सूत्रस्थान) में किया है।

कतिपय प्राचीनतर निघंटु संहितोत्तर निघंटु हैं और रस वैशेषिक हैं। मध्ययुगीन निघंटुओं में अष्टांगनिघंटु, पर्यायरत्नमाला, सिद्धसार निघंटु, धन्वन्तरि निघंटु, इन्दुनिघंटु, सोढल निघंटु, कैयदेव निघंटु, उल्लेखनीय हैं। १९वीं सदी तक के अद्यतन निघंटुओं में भावमिश्र का भावप्रकाशनिघंटु राज निघंटु, द्रव्यगुणशलाका, शिवकोष, निघंटु-रत्नाकर, वनौषधि गुणादर्श मुख्य हैं। वनौषधि दर्पण, वनस्पति शास्त्र, निघंटु आदर्श, रूप निघंटु, संदिग्ध निर्णय (वनौषधि शास्त्र), वनौषधि चंद्रोदय, द्रव्यगुण विज्ञान बीसवीं सदी की कृतियां हैं।

निघंटु उपयोग विधि

हम भावमिश्र के भावप्रकाश निघंटु को उदाहरण के रूप में ले सकते हैं। भावमिश्र ने औषध विवरणी (मेटीरिया मेडिका) के क्षेत्र में अति महत्वपूर्ण कार्य किया है। यद्यपि उन्होंने बहुत सारी बातों में अपने पूर्ववर्तियों का ही अनुसरण किया किंतु उन्होंने अनेक नयी औषधियों का जो भारत में मुस्लिम और यूरोपीय विदेशियों के संपर्क के फलस्वरूप चिकित्सा व्यवसाय में सुपरिचित हो चुकी थीं वर्णन किया है। प्रायः निघंटु वर्गों में बंटा होता है। भावप्रकाश निघंटु में हरीतक्यादि, कर्पूरादि, गुडूच्यादि, पुष्प, शाक आदि २३ वर्ग हैं। अंत में उन्होंने अनेकार्थ नाम वर्ग भी दिया है जिसमें औषधियों के पर्यायों का संग्रह प्रस्तुत है।

यदि हमें किसी पदार्थ का जैसे मान लें केले का गुण और कर्म जानना है तो हमें 'आम्रादि फलवर्ग' में उसे ढूंढ़ना होगा। उसमें केले के पर्याय, प्रकार, गुण निम्नवत (श्लोक ३३, ३४) मिलेंगे :-

पर्याय

कदली

वारणा

मोच

अंबुसार

अंशुमति फल

गुण

कच्चा : *'मोचफलं स्वादु शीतं विष्टम्भो कफकृत् गुरु स्निग्धं पित्तास्रतृड्दाह क्षतक्षय समीरजित्'* अर्थात् कच्चा केला स्वादिष्ट, शीतल, अवातानुलोमक, कफवर्धक, भारी, स्निग्ध, और पित्त, रक्त, वात, तृष्णा, दाह, चोट, और क्षय का नियंत्रण करता है।

पका : *'पक्वं स्वादु हिमं पाके स्वादु वृष्यं च बृंहणम्।*

क्षुत्तृष्णा नेत्रगद हृन्मेहघ्नं रुचि मांसकृत्।।'

अर्थात् पका फल स्वाद और विपाक दोनों में मधुर, ठंडा, वाजीकर, बृंहण, रुचिवर्धक, मांसवर्धक, और भूख, प्यास, नेत्ररोग और प्रमेह को नष्ट करता है।

साथ ही केले के विभिन्न प्रकारों और उनके गुणकर्म भी वर्णित हैं। सामान्य रूप से उपर्युक्त वर्णन से हमें कच्चे एवं पके केले के गुण और हमारे शरीर पर उनकी क्रिया की जानकारी हो जाती है। इसी प्रकार सब्जियों, फूलों, औषधियों आदि के गुणकर्म ज्ञात कर तदनुसार उपयोग किया जा सकता है।

निघंटुओं में तैयार किये गये खाद्यों के गुण-कर्म का भी वर्णन कृतान्नवर्ग के अंतर्गत मिलता है साथ ही निर्माण विधि भी दी होती है। जैसे रोटिका (रोटी, चपाती)

निर्माण विधि :- सूखा आटा पानी से गूंथकर उसकी छोटी गोलियां बनाकर बेल लें (पूरिका से कुछ मोटा)। पहले तवे पर थोड़ा पका लें उसके बाद सीधे आग पर पकायें। (श्लोक ३१)।

रोटिका के गुण :- *'रोटिका बलकृद्रुच्या बृंहणी धातुवर्धनी, वातघ्नी कफकृद् गुर्वी दीप्ताग्नीनांप्रपूजिता* (श्लोक ३२)' रोटी गरिष्ठ, बलदायक, स्थूलतावर्धक, और धातुओं के निर्माण को बढ़ावा देने वाली है। यह कफ और वात बढ़ाती है।

भावमिश्र ने ८० से अधिक तैयार खाद्य पदार्थों का वर्णन किया है। अन्य निघंटुओं और पाकशास्त्रों ने भी इसी प्रकार नुस्खों के साथ निर्मित व्यंजनों का वर्णन किया है।

गण

चरक ने औषधियों को ५० वर्गों या गणों में उनकी क्रियानुसार बाँटा है। विभिन्न लेखकों ने समस्त द्रव्यों की क्रियाओं का वर्णन करने के लिए नये नये शब्दों का समावेश किया है। नीचे ऐसे समस्त पदों की सूची दी जा रही है जो हमारे निघंटुओं और अन्य चिकित्सा साहित्य से संकलित हैं। साथ ही उनके लगभग अर्थ भी दिये गये हैं।

आर्तवजनन	मासिक स्रावकारी
आस्थापनोपग	उपसंशोधक एनीमाटा
आस्यास्रवण	लालाजनक
अभिष्यन्दि	स्रोतस-अवरोधक
अग्निसादन	भूखनाशक
अंगमर्द प्रशमन	बदन दर्द शांत करने वाला
अनुलोमन	अधोगति करने वाला
अनुवासनोपग	उपस्निग्ध एनीमाटा

अर्शोघ्न	रक्तस्रावरोधी
अश्मरीभेदन	पथरी तोड़ने वाला
बल्य	बलदायक
भेदनीय	बृंहणीय/बृंहण स्थूलतावर्धक
चाक्षुष्य	आँखों के लिए हितकर
छर्दि	निग्रहण वमनरोधी
छेदन	कफोत्सारक
दाहप्रशमन	प्रशीतलक
दीपनीय/दीपन	भूख बढ़ाने वाला
हिक्का निग्रहण	हिचकी दूर करने वाला
हृद्य	हृदय के लिए हितकर
जीवनीय	प्राणवत्ता संचारक
ज्वरहर/ज्वरघ्न	बुखार दूर करने वाला
कासहर	खाँसी दूर करने वाला
कंडूघ्न	खुजली दूर करने वाला
कंठ्य	गले के लिए हितकर
कफकोपन	कफ दूषक
कफशमन	कफ शांत करने वाला
क्रिमिघ्न	क्रिमिनाशक
लेखनीय/लंघन	क्षीणताकारक
मदकारी	नशा करने वाला
मेदोहर	मोटापा कम करने वाला
मेध्य	बुद्धिवर्धक
मूत्र विशोधन	मूत्र पूतिरोधी

मूत्रसंग्रहणीय	अल्पमूत्र जनक
मूत्रविरजनीय	मूत्र का रंग दूर करने वाला
मूत्रविरेचनीय	बहुमूत्रकारक
नस्य	सुंघनी
निद्राजनन	नींद लाने वाला
पाचन	पचाने वाला
पित्त कोपन	पित्त दूषक
पित्त शमन	पित्त का शामक
प्रजास्थापन	गर्भ स्थापक
प्रमाथि	स्रोतस साफ करने वाला
पुरीषसंग्रहणीय	आँत का स्तंभक
पुरीष	विरजनीय मल का रंग उड़ाने वाला
रक्त प्रसादन	रक्त शोधक
रसायन	पुनर्यौवनकारी
रोचन	सुगंधकारक
रोमसंजनन	केशों को बढ़ाने वाला
रूक्षण	रूखा करने वाला
संज्ञास्थापन	पुनर्जीवक
संधानीय	स्वास्थ्यकर
शीतप्रशमन	सर्दी को दूर करने वाला
शिरोविरेचनोपग	उपनस्य
शोणितास्थापन	रक्तस्तंभक
शूलप्रशमन	आंत्र प्रति–आक्षेपी
शोथहर	सूजन दूर करने वाला

श्रमहर	ऊर्जा–पूरक
शुक्रजनन/वाजीकरण	वीर्यवर्धक
श्वासहर	सांस की तकलीफ दूर करने वाला
श्वयथुहर	शोथ दूर करने वाला
स्नेहोपग	उप–तैलद
स्तन्यशोधन	उरोजदुग्ध को शुद्ध करने वाला
शुक्रशोधन	वीर्यशुद्ध करने वाला
स्वेदोपग	उपस्वेदक
तृप्तिघ्न	तृप्तिनाशक
तृष्णा निग्रहण	प्यास का नियंत्रण करने वाला
उदर्द प्रशमन	प्रत्यूर्जतानाशक
वात कोपन	वातदूषक
वातशमन	वात को दबाने वाला
वमनोपग	उपवामक
वर्ण्य	रूपवर्धक
वयः स्थापन	जरावस्थानाशक
विदाहि	जठर उत्तेजक
विरेचनोपग	उप विरेचक
विषघ्न	विषनाशक
विष्टंभि	अवातानुलोमक
वेदनास्थापन	पीडानिवारक

संदर्भ ग्रंथ

जहाँ कहीं शास्त्रोक्त संदर्भ दिये गये हैं वे (चरक, सुश्रुत आदि) के मानक संस्करणों से उद्धृत किये गये हैं। विविध शास्त्रीय ग्रंथों पर संक्षिप्त टिप्पणी के लिए पाठकगण कृपया लोस्वापसंस महानिबंध संख्या १ के, जिसका शीर्षक 'स्थानीय स्वास्थ्य परंपराएं : एक परिचय' है, द्वितीय संलग्नक शीर्षक 'आयुर्वेद के स्रोत ग्रंथ' देखें। नीचे उद्धृत संदर्भों के अतिरिक्त निम्न ग्रंथों का भी उपयोग किया गया है :

(क) भोजराज कृत चारुचर्या, संपादक, बी. रामा राव (इंडियन इंस्टिट्यूट आफ हिस्ट्री आफ मेडिसिन, हैदराबाद) १९७४

(ख) क्षेमकुतूहलम्– क्षेमशर्मा कृत, हिन्दी व्याख्याकार डा. इन्द्रदेव त्रिपाठी (चौखंबा ओरियंटेलिया, वाराणसी) १९७८

(ग) रघुनाथ सूरिकृत भोजनकुतूहलम्, संपादक, एस.एन. राघवन् (तंजावुर सरस्वती महल लाइब्रेरी, तंजावुर) १९७४

(घ) सुषेणकृत आयुर्वेद महोदधि अन्नपान विधि, संपादक – चंद्रशेखरन् (मद्रास गवर्नमेंट ओरियंटल मैनस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास) १९५०

(ङ) महाराज नलकृत पाकदर्पण, संपादक, पं. वामाचरण भट्टाचार्य (चौखंबा संस्कृत संस्थान, वाराणसी) १९८३

(च) वराहमिहिर कृत बृहत्संहिता, एम.आर. भट्ट द्वारा अनूदित। (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली) १९८७।

दिसंबर १९८६ में कालाडि में लोक स्वास्थ्य परंपरा संवर्धन समिति ने 'पोषण का आयुर्वेदीय विज्ञान' विषय पर एक सप्ताह चलने वाली कार्यशाला आयोजित की थी। इसमें प्रस्तुत कतिपय शोधपत्र भी नीचे उल्लिखित हैं।

पाठ्यांश में उद्धृत संदर्भ :-

१. **इंट्रोडक्शन टु द्रव्यगुण** – पी.वी. शर्मा (चौखंबा ओरियंटेलिया, वाराणसी) १९७६

२. **'रियल्मस आफ आयुर्वेद'** में ऐन इंट्रोडक्शन टु आयुर्वेद – पं. शिव शर्मा (आर्नोल्ड हाइनेमैन, नयी दिल्ली) १९७९

३. **दि फंडामेंटल प्रिंसिपुल्स आफ आयुर्वेद** – सुभाष रानडे ऐंड बी.वी. साठ्ये (विलो ब्रेमर्लिंग, वेस्ट जर्मनी)

४. स्टोरीज़ फ्राम भगवान (श्री रमणाश्रम, तिरुवन्नमलई) १९८०, पृ. १६

५. वैद्य जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल कृत पथ्यापथ्य निरूपणम् (सुधानिधि प्रकाशन, इलाहाबाद) पाँचवाँ संस्करण।

६. ट्रेडीशनल चाइल्डबर्थ प्रैक्टिसेज़ इंप्लिकेशन्स फॉर ए रूरल एमसीएच प्रोग्रैम – एस. भाटिया, स्टडीज़ इन फैमिली प्लानिंग १२ (१९८१) ६६–७४

७. एलएसपीएसएस (लोक स्वास्थ्य परंपरा संवर्धन समिति) : ए सर्वे आफ ट्रैडीशनल प्रैक्टिसेज़ इन दि एरिया आफ मदर ऐंड चाइल्ड हेल्थ (एल.एस.पी.एस.एस. १९८९)

८. दि सोशियो कल्चरल ऐस्पेक्ट्स आफ फुड एवाइडेन्स इन ए लो इन्कम पापुलेशन इन तमिलनाड, साउथ इंडिया – जे. कटोना–आप्टे, जर्नल आफ ट्रॉपिकल पीडियाट्रिक्स, २३ : ८३–९०।

९. फुड हैबिट्स ऐंड न्यूट्रिशन इन रूरल बांग्लादेश – एम.ए. रिया, मेनोनाइट सेंट्रल कमिटी, शोनापुर, बांगलादेश, १९८१ (मिमियोग्राफ अभिलेख)

१०. ट्रेडीशनल बर्थ अटेंडेट्स (दाईज़) ऐंड रूरल वूमन देयर कन्सेप्ट्स ऐंड ऐटिट्यूड टुवर्डस न्यूट्रिशन ऐंड चाइल्ड हेल्थ इन आंध्र प्रदेश – टी.पी. कृष्ण आदि इंडिया पीडियाट्रिक्स वाल्यूम २१ जनवरी (१९८४) पृ. २९–३४।

११. सोशियो कल्चरल फैक्टर्स एंड मैलन्यूट्रिशन इन तेलंगाना एंड आंध्र प्रदेश – पार्वती के. राव, न्यूट्रिशन सोसाइटी आफ इंडिया की कार्यवाही (१९६८) पृ. ३२–४३।

१२. ऐन इफेक्टिव ऐंड सिंपुल मेथड फार डिसिनफेक्शन आफ वाटर – एस.एच. गोडबोले, द इंडियन जर्नल आफ मेडिकल साइंसेज़ वाल्यूम २५ (१९७१) ७१२–१८१।

१३. उपवास – बी. वेंकटराव (प्रकृति, नेचर क्योर हास्पिटल, हैदराबाद) १९८९।

१४. आयुर्वेदीय शब्द कोष – वैद्य वेणीमाधव शास्त्री जोशी एवं वैद्य नारायण हरि जोशी संपादित (महाराष्ट्र राज्य समिति, साहित्य एवं संस्कृति, बंबई) १९६८

१५. आयुर्वेदिक क्लासिफिकेशन आफ फूड – पी. नारायणन् (कालाडि सेमिनार में पढ़ा गया शोध पत्र) १९८६।

१६. **कस्टर्ड** : आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से गुणकर्मादि का निश्चय – वैद्य रमेश म. नानल, आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका, फरवरी, १९८९, पृ. १७–१९।

१७. इवैलुएशन आफ न्यूट्रीशनल वैल्यू आफ प्रीस्कूल सप्लिमेंटरी फूड्स प्रोमोटेड बाई गवर्नमेंट इन आंगनबाड़ी प्रोग्रैम इन तमिलनाडु ऐंड केरल – जे.जे. विजयपाल (कालाडि सेमिनार में प्रस्तुत) १९८६.

१८. **मधु** – एम.वाइ. लेले (कालाडि परिचर्चा में प्रस्तुत शोधपत्र) १९८६.

१९. मिल्क ऐंड मिल्क प्रोडक्ट्स – आर.एम. नानल (कालाडि परिचर्चा में प्रस्तुत शोधपत्र) १९८६.

जीवनीय

स्वास्थ्य पत्रिका

Keep Healthy in All Seasons

Read Jeevaniya

जीवनीय, ई III/250, सेक्टर एच
अलीगंज, लखनऊ - 226020

Jeevaniya, E III/250, Sector H
Aliganj, Lucknow - 226020